(गोविन्द माधव)

भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता

(पुस्तक संख्या–37)

विनयावनत–

○ ब्रह्मशंकर शास्त्री

➢ प्रकाशक की ओर से–

श्रीमद्भगवद्गीता तथा भगवान श्रीकृष्ण के बारे में कोई परिचय देना उचित नहीं है। सम्पूर्ण विश्व में अधिकांश उनके नाम से परिचित ही हैं। परन्तु भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में लोगों की पृथक्–पृथक् अवधारणाएं है। उनकी वास्तविक स्थिति क्या है ? इसको प्रकट करना अत्यावश्यक हैं। अनेक लोगों को उनके सम्बन्ध में भ्रम है अनेक लोगों के मिथ्या विचार है। इसलिए उनकी वास्तविक स्थिति का विनिश्चय कैसे हो इस सम्बन्ध में इस पुस्तक में अनेक तथ्य प्रस्तुत किए गए है और वे तथ्य भगवद्गीता के वचनों के आधार पर ही हैं। व्यक्त विषयों में प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और अप्रत्यक्ष विषयों में प्रत्यक्ष की तरह प्रमाण नहीं होता। वरन् वे अनेक साधनों के आधार पर प्रस्तुत किए जाते है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में शास्त्री जी द्वारा जो यह पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है उसका आधार भगवद्गीता है। भगवद्गीता के वचनों के आधार पर ही भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता का विनिश्चय किया गया है और उनकी वास्तविक स्थिति क्या है ? इस सम्बन्ध में प्रमाणिक विचार प्रस्तुत किए गए हैं। कोई भ्रम या संशय उस सत्ता के बारे में नहीं होना चाहिए जिसके बारे में हम संशय करते है। इसलिए भी यह पुस्तक महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि इसमें भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उनकी वास्तविक सत्ता के बारे में पूर्ण रूप से स्पष्ट किया गया है। जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं वे तार्किक है और तक के आधार पर है। उन्हे प्रमाण कहा जा सकता है। बहुत से मनीषी भगवान श्रीकृष्ण को महापुरूष ही मानते हैं परन्तु इस अवधारणा का गीता समर्थन नहीं करती है। जिस तथ्य का गीता समर्थन करती है उसका इस पुस्तक में स्पष्ट विवेचन किया गया है। आशा है कि भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध जो मिथ्या विचार और अवधारणाऐं हैं जो पुस्तक के पठन पाठन से स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। भगवान श्रीकृष्ण चिंतन का विषय हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में प्रयोगात्मक रूप से हमें चिंतन करना चाहिए और उसका परिणाम देखना चाहिए।

➢प्रकाशक

➢विनम्र अनुरोध

बहुत दिनों से यह विचार मन में था कि भगवद्गीता का उपदेश जिस सत्ता ने दिया अर्थात् जिस शक्ति ने भगवद्गीता के अथाह ज्ञान को मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत किया वह सत्ता कौन है ? इस तथ्य को स्पष्ट किया जाए। यह विचार कई बार आया परन्तु इसे पुस्तक के रूप में प्रकट करना संभव नहीं हो सका। श्री भगवान के बारे में अनेक लोगों के जो विचार हैं वे पारस्परिक विरोधाभासी हैं। जहां पर पारस्परिक विरोधाभास होता है वहां पर सत्य का प्रकटीकरण कैसे हो ? यह तथ्य महत्वपूर्ण हो जाता है। किसी भी विषय में जब संशय हो जाता है तो संशय का निवारण करके सत्य को प्रकट करना आवश्यक होता है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण के बारे में उनकी सत्ता के बारे में स्पष्टीकरण हेतु इस पुस्तक की रचना की जा रही है और वह सब सप्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसको समझ कर हम सभी उस परम सत्ता के सम्बन्ध में संशय से रहित हो सकेंगे।

महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत महाकाव्य में एक लाख श्लोक हैं। यह विश्व का विशालतम महाकाव्य है जिसमें ऐसा कोई विषय नहीं है जिसको समायोजित न किया गया हो। इसे पंचम वेद की संज्ञा दी जाती है। इस महाकाव्य के वनपर्व में अर्जुनाभिगमनपर्व है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उनकी सत्ता के विषय में स्पष्ट वर्णन किया गया है। इस वर्णन का अवलोकन कीजिए–

अर्जुन उवाच :–

दश वर्षसहस्त्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः।

व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने।।11।।

अर्जुन ने कहा – हे भगवन पूर्व समय में गंध मादन पर्वत पर आपने ही यत्रसायंगृह मुनि के रूप में दस हजार वर्षो तक निवास किया है।

दश वर्षसहस्त्राणि दश वर्षशतानि च।

पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा।।12।।

हे भगवन ! पूर्व काल में एक समय आपने पृथ्वी लोक पर अवतार ग्रहण करके 11 हजार वर्षो तक मात्र जल ग्रहण करके पुष्कर तीर्थ में निवास किया।

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन।

अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः।। 13।।

हे मधुसूदन ! आप ही विशालापुरी के बद्रीकाश्रम में अपनी दोनों बाहो को ऊपर उठाये हुए मात्र वायु का आहार लेकर 100 वर्षो तक एक ही पैर पर विराजमान रहे। .

अवकृष्टोत्तरासंग कृशो धमनिसंततः।

आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके।। 14।।

हे कृष्ण आप ही पवित्र सरस्वती नदी के तट पर उत्तरीय वस्त्र का भी त्याग करके 12 वर्षो तक यज्ञ करते रहे और अत्यंत दुर्बल हो गए। जिसके कारण आपके शरीर में नशे आदि उभर कर दिखाई पड़ने लगी।

प्रभासमप्यथसाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम्।

तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्त्रकम्।। 15।।

अतिष्ठस्त्वमथैकेन पादने नियमस्थितः।

लोकप्रवृत्तिहेतुस्त्वमिति व्यासो ममाब्रवीत्।। 16।।

हे गोविन्द आप प्रभास तीर्थ में पहुंच कर सद्पुरुषों के आश्रययोग स्थल में तप में संलग्न करने हेतु शौचादिक नियमों का पालन करते हुए अत्यंत तेजस्वी रूप से एक हजार वर्षो तक एक ही पैर पर विराजमान रहे। यह समस्त तथ्य महर्षि वेद व्यास ने मेरे समक्ष उद्घाटित किए हैं।

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव।

निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः।। 17।।

हे केशव ! आप क्षेत्रज्ञ हैं। समस्त प्राणी मात्र के आदि और अन्त कारण है। तपस्या के आधार है। स्वयं यज्ञ और शाश्वत पुरूष हैं।

निहत्य नरंक भौममाहृत्य मणिकुण्डले।

प्रथमोत्पतितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः।। 18।।

आपने ही भूमि पुत्र नरकासुर का वध करके अदिति के दोनों मणि से युक्त कुण्डलों को लाने का कार्य किया था और आपके द्वारा ही सृष्टि के विस्तार के समय उत्पन्न होने वाले यज्ञ के लिए प्रयुक्त घोड़ों की रचना की जाती है।

कृत्वा तत् कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित्।

अवधीस्त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्यदानवान्।। 19।।

ब्रह्मण्ड में जितने भी लोक हैं आप उनके स्वामी हैं आपने ही समस्त दैत्यों और दानवों का युद्ध में संहार किया था।

ततः सर्वेश्वरत्वं च सम्प्रदाय शचीपतेः।

मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव।। 20।।

हे महाबाहो केशव ! उसके उपरान्त शशि के पति को सर्वेश्वर जैसा पद देकर वर्तमान में आप मनुष्य के स्वरूप में प्रकट हुए है।

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप।

ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यामोऽनलः। 21।।

वायुर्वैश्रणो रूद्रः कालः खं पृथिवी दिशः।

अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरूषोत्तम। 22।

हे परंतप, हे! पुरुषोत्तम ! आप ही नारायण हैं और पुनः हरि के स्वरूप में प्रकट हुए है। ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, यम, अनल, वायु, कुबेर, रूद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाऐं, चराचर गुरु तथा सृष्टि को उत्पन्न करने वाले होकर भी आप जन्म से रहित हैं।

परायणं देवमूर्धा कतुभिर्मधुसूदन।

अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने।। 23।।

हे मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आपके द्वारा ही चैत्ररथवन में अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया गया था। आप ही सर्वोत्तम आश्रय हैं देवों के देव हैं और महान तेजस्वी हैं।

शतं शतसहस्त्राणि सुवर्णस्य जनार्दन।

एकैकस्मिस्तदा यज्ञे परिपर्णानि भागशः।। 24।।

हे जनार्दन ! उस अनुष्ठान में आप ने ही यज्ञ में एक एक करोड़ स्वर्ण मुद्रायें दक्षिणा के स्वरूप में अलग अलग प्रदान की थी।

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन।

त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः।। 25।।

हे यदुनन्दन आप ही अदिति के पुत्र हैं, इन्द्र के लघु भ्राता होकर सर्वत्र विराजमान होने वाले विष्णु के रूप में प्रख्यात हैं।

शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परंतप।

त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा। 26।।

हे परंतम श्रीकृष्णा ! आपने वामन अवतार के समय छोटे रूप के बालक के रूप में प्रकट होकर तीन डगो में तीनों लोकों को नाप लिया था। अर्थात् द्युलोक, अंतरिक्षलोक और भूलोक आप के द्वारा तीन डगो में ही नाप लिए गए थे।

सम्प्राप्य दिवमाकाशमादित्यस्यन्दने स्थितः।

अत्यरोचश्च भूतात्मन् भास्करं स्वेन तेजसा।। 27।।

हे भूतात्मन ! आप ही सूर्य के रथ पर आरूढ़ हैं द्युलोक और आकाश में उपस्थित होकर स्वयं के तेज से भगवान सूर्य को प्रकाशित करते हैं।

प्रादुर्भावसहस्त्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो।

अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः।। 28।।

हे विभो आपने अनगिनत अवतार ग्रहण किये हैं उन अवतारों के द्वारा असंख्य दैत्यों का और अधर्म में संलग्न राक्षसों का विनाश किया है।

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनत्त्कौ हतौ।

कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति।। 29।।

हे प्रभो! आपने ही मुर नामक राक्षस का लौह कवच काटा था तथा निसुन्द और नरकासुर जैसो का वध किया था तथा फिर से प्राग्ज्योतिषपुर का मार्ग यात्रा करने योग्य बनाया था।

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह।

जरासंधश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः।। 30।।

हे भगवन! आपके द्वारा ही जारूथि नगरी में आहुति, क्राथ के सहित शिशुपाल, जरासंध, शैब्य तथा शतधन्वा को पराजित किया गया था।

तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा।

अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रूक्मिणम्।। 31।।

वैसे ही बादल के सदृश्य आवाज करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी रथ के द्वारा कुंण्डिनपुर में पहुंच कर रुक्मी को भी युद्ध में परास्त किया और भोज वंश में उत्पन्न रूक्मिणी को अपनी रानी के रूप में स्वीकार किया।

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश्च कसेरुमान्।

हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम्।। 32।।

हे प्रभु ! आपके द्वारा ही इन्द्रद्युम्न का वध किया गया तथा यवन जाति के कसेरुमान तथा सौभपति शाल्व को भी मार डाला गया तथा शाल्व के सौभ विमान को नष्ट करके पृथ्वी पर गिराया गया था।

एवमेते युधि हता भूयश्चान्याञ्छृणुष्व ह।

इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि।। 33।।

वैसे ही पूर्व के राजाओं को भी आपने युद्ध में परास्त किया है। आपके द्वारा जो अन्य राजा परास्त किए गए है उनके नाम का वर्णन कर रहा हूं। इरावती के तट पर आप ने ही कार्तवीर्य अर्जुन के समान अत्यंत पराक्रमी भोज का वध किया था।

गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभो।

तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन।।। 34।।

गोपति और तालकति भी आपके द्वारा ही वध किए गए थे। हे जर्नादन ! ऋषि मुनियों की अत्यंत प्रिय और आपके आश्रय में रहने वाली पुण्ययुक्त द्वारिका नगर को आपके द्वारा ही समुद्र में डुबो दिया गया था।

द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि।

न क्रोधो न च मात्सर्य नानृतं मधुसूदन।

त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतेऽनृजु।। 35।।

आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसः।

आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत।। 36।।

हे मधुसूदन ! यथार्थ में क्रोध, मात्सर्य, असत्य, निर्दयता आप में नहीं है। दाशार्ह! ऐसी स्थिति में आपमें कठोरता नहीं हो सकती है। हे अच्युत! आप ही अपनें प्रसाद के मध्य

विराजमान होकर अपने तेज को प्रकट कर रहे हैं। तथा समस्त ऋषिगण आपसे ही अभय की प्रार्थना करते हैं।

युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन।

आत्मनैवात्मसात् कृत्वा जगदासीः परंतप।। 37।।

हे परंतम मधुसूदन ! प्रलय के समय समस्त प्राणिमात्र का संहार करने वाले आप ही हैं और इस संसार को अपने अंदर प्रविष्ट करके स्वयं विराजमान रहते हैं।

युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपध्मदजायत।

ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत्।। 38।।

हे वार्ष्णेय ! जब सृष्टि का आरम्भ होता है तो आपके नाभि कमल से ही चर और अचर को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा जी उत्पन्न होते है जिनसे यह समग्र संसार उत्पन्न हो जाता है।

तं हन्तुमुद्यतो घोरो दानवौ मधुकैटभो।

तयोवर्यतिक्रमं दृष्टवा कुद्धस्य भवतो हरेः। 39।।

लललाटाज्जातवाञ्छम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः।

इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीसमुद्भवो।। 40।।

ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के काल में मधु और कैटभ ब्रह्म जी का वध करने को उन्मुख हुए थे तो आप ने ही क्रोध से भगवान शंकर को उत्पन्न किया तथा त्रिशूल भी प्रदान किया। वे त्रिनेत्रधारी भगवान शंकर और ब्रह्मा तथा शिव आपके शरीर से ही प्रकट हुए थे।

त्वन्नियोगकरावेताविति में नारदोऽब्रवीत्।

तथा नारायण पुरा कतुभिर्भूरिदक्षिणैः।। 41।।

इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने।

नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा।। 42।।

यानि कर्माणि देव त्वं बाल एवं महाबलः।

कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान्।

कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह।। 43।।

ब्रह्मा और शंकर आपके आदेश को ही मानने वाले है। यह तथ्य नारद जी के द्वारा उद्घाटित किया गया है। हे नारायण श्रीकृष्ण ! पहले समय में भी चैतरथवन में यज्ञ के समय प्रचुर मात्रा में दक्षिणा से युक्त अनेक यज्ञों का अनुष्ठान आपके द्वारा ही किया गया। आप अत्यंत पराक्रमी है। बलदेव जी आपके ही सहायक है। आपने अपनी बाल्यावस्था में अनेक आश्चर्यजनक कर्मो का सम्पादन किया है। वैसे कर्म पहले के किन्हीं पुरूषों द्वारा नहीं सम्पादित किए। आप ही ब्राम्हणों के साथ कुछ समय तक कैलाश पर्वत पर विराजमान रहे।

वैशम्पायन उवाच :–

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः।

तूष्णीमासीत् ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः।। 44।।

वैशम्पायन जी ने कहा कि हे जनमेजय! भगवान श्रीकृष्ण के स्वस्वरूप पाण्डुपुत्र अर्जुन यह विनती करके शान्त हो गए तब भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहा–

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तमैव ते।

यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु।। 45।।

हे पार्थ ! आप अपने ही हो और मैं आपका ही हूं। जो मेरे अपने हैं वे भी आपके ही है। इस कारण जो आपसे ईर्ष्याभाव रखता है मैं उनसे भी ईर्ष्या भाव रखता हूं। जो तुम्हारे सहयोगी है मैं उनका भी सहयोगी हूं।

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।

काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी।। 46।।

हे दुर्धर्ष अर्जुन ! आप नर के रूप में विराजमान हो और मैं नारायण के रूप में स्थित हूं। इस समय हम दोनों मिलकर नारायण ऋषि के रूप में इस पृथ्वी पर आये है।

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।

नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ।। 47।।

हे कुन्ती कुमार ! तुम मेरे से भिन्न नहीं हो मैं तुमसे भिन्न नहीं हूं! हे भरत श्रेष्ठ! फिर भी हम लोगों में जो अंतर है उसे जाना जा पाना संभव नहीं है।

वैशम्पायन उवाच :–

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना।

तस्मिन् वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु। 48।।

धृष्टद्युम्नमुखैवीर्रेभ्रातभिः परिवारिता।

पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभिः सह।

अभिगम्याब्रवीत् क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी।। 49।।

वैश्मायन ने कहा हे जनमेजय! क्रोध से युक्त राजाओं के समूह में अनेक वीरों की उपस्थिति में भगवान केशव के ऐसा कहने पर धृष्टधुम्न आदि भाईयों से घिरी और क्रोधित पांचाल राजकुमारी द्रोपदी भाईयों के साथ उपस्थित शरण लेने योग्य भगवान श्रीकृष्ण के समीप उपस्थित होकर आश्रय से कामना से ऐसे वचन बोली।

द्रौपद्युवाच :–

पूर्व प्रजाभिसर्गे त्वामहुरेकं प्रजापतिम्।

स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत्।। 50।

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन।

यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत्।। 51।।

द्रोपदी ने कहा हे भगवन! जब सृष्टि आरम्भ होती है तो आपको ही सम्पूर्ण सृष्टि का उत्पन्न करने वाला कहा जाता है। ऐसा महर्षि असित और देवल का विचार है। हे मधुसूदन! आप विष्णु के रूप में हैं। आप यज्ञ हैं। आप यजमान के रूप में भी हैं। आप पूजा करने वाले श्री हरि भी हैं। ऐसा भगवान परशुराम का विचार है।

ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरूषोत्तम।

सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत्।। 52।।

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर।

भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत्।। 53।।

ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः।

क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव।। 54।।

हे पुरूषोत्तम कश्यप जी का यह विचार है समस्त महार्षिगण आपको क्षमा और सत्य का पर्याय कहते हैं। सत्य से उत्पन्न हुए यज्ञ के स्वरूप आप ही हैं। हे भूतभावन ! भूतेश्वर ! आप ही साध्य देवताओं तथा कल्याण करने वाले रूद्रों के स्वामी हैं। नारद जी ने आपके सम्बन्ध में ऐसा कहा है। हे नर श्रेष्ठ जैसे एक छोटा बच्चा अनेक खिलौनों से खेला करता है उसी प्रकार आप ब्रह्मा इन्द्र आदि देवताओं से निरन्तर खेला करते है।

द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भयां च पृथिवी प्रभो।
जठरं त इमे लोकाः पुरूषोऽसि सनातनः। 55।।
विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम्।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः।। 56।।
राजर्षीणां पुण्यकृतामहावेष्वनिवर्तिनाम्।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गति पुरूषर्षभ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे। 57।।

हे प्रभु ! यह स्वर्ग लोक आप के ललाट से और पृथ्वी लोक आपके चरणों से आच्छादित है और अन्य समस्त लोक आपके उदर के रूप में स्थित हैं। आप ही शाश्वत पुरूष है, विद्या और तपस्या से युक्त और तप के द्वारा परिमार्जित अंतःकरण वाले महानुभाव स्वयं के ज्ञान से संतृप्त होने में आपको ही श्रेष्ठ समझते हैं। हे पुरुषोत्तम! आप ही युद्ध में कभी न हारने वाले राज ऋषियों के आश्रय है। आप ही सबके स्वामी सर्वव्यापक और समस्त भूत प्राणियों की आत्मा हैं। आप ही अनेक प्रकार के प्राणियों के रूप में असंख्य चेष्टाऐं भी कर रहे हैं।

लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्व प्रतिष्ठितम्।। 58।।
मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम्।
त्वयि सर्व महाबाहो लोककार्य प्रतिष्ठितम्।। 59।।

लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दश दिशाऐं, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य सब आप में प्रतिष्ठित हैं। हे महाबाहो! पृथ्वी लोक के समस्त प्राणी मृत्यु के अधीन हैं। देवताओं में जो अमृत तत्त्व है तथा समस्त संसार का जो कार्य है वह आप से ही प्रतिष्ठा पाता है।

महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित महाभारत महाकाव्य में भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से जो विचार दिए गए हैं वे भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता का स्पष्ट वर्णन करते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है कि भगवान श्रीकृष्ण ही इस जगत का आदि, मध्य और अन्त कारण है। यह तथ्य हम नहीं कह रहे हैं वरन् इसका जो वर्णन महाभारत महाकाव्य में हुआ था उस आधार पर हम यह विचार दे रहे हैं।

- **ब्रह्मशंकर शास्त्री**

(1) संसार के दो विषय व्यक्त और अव्यक्त :–

(क) व्यक्त विषय :–

मनुष्य संसार में उत्पन्न होता है और शिशु अवस्था से आगे बढ़ता हुआ बाल्यावस्था और किशोरावस्था तक पहुंचता है। इसके पश्चात् युवावस्था में स्वतः ही पहुंच जाता है। इसके लिए कोई प्रयास नही करना पड़ता। अर्थात् हम बिना प्रयास के ही युवावस्था तक आ जाते हैं। युवावस्था तक पहुंचा हुआ व्यक्ति संसार के विषय में बहुत कुछ जानता और सीखता है तथा संसार से व्यवहार करता है। जो वह जानता और सीखता है जिससे वह व्यवहार करता है उस सबको सत्य मानता है। क्योंकि यह सब व्यक्त विषय हैं। अर्थात् दिखाई पड़ते हैं, प्रतीत होते हैं। उनका स्पर्श होता है और उनसे सुख दुःख तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता की प्रतीति होती है। चूंकि व्यक्त विषय प्रत्यक्ष होते हैं और प्रत्यक्ष में प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं होती। हम प्रत्यक्ष को देखकर ही उसके साथ व्यवहार करके ही उसे मान लेते हैं। उसके सम्बन्ध में कभी कोई शायद ही तर्क करता हो अर्थात् प्रत्यक्ष विषय तार्किक होते हैं उनमें तर्क का कोई सम्बन्ध नहीं होता। तर्क वहां से आरम्भ होता है जो हमे प्रतीत नहीं होता। दिखाई नहीं पड़ता और जिनसे हम व्यवहार नहीं कर पाते। इस स्थल पर प्रसंगवश यही कहना है कि व्यक्त विषय के सम्बन्ध में कुछ भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्त स्वतः ही स्वीकार होते हैं।

हम युवावस्था से प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था तक होते हुए मृत्यु तक पहुंच जाते हैं। वृद्धावस्था तक तो मनुष्य व्यक्त रहता है और वृद्धावस्था के उपरान्त मृत्यु की अवस्था उसे अव्यक्त कर देती है यह पंच भौतिक शरीर जब नष्ट हो जाता है तो उसके पश्चात् क्या है अर्थात् मृत्यु के पश्चात् क्या स्थिति आती है ? यह सब अव्यक्त है। हमारे जन्म के पूर्व भी क्या स्थिति थी ? हमारा इस लोक में प्रार्दुभाव कहां से हो गया ? यह विषय भी अव्यक्त है और मृत्यु के पश्चात् हम कहां जायेंगे यह विषय भी अव्यक्त है। मात्र जन्म के पश्चात् और मृत्यु के पूर्व के जो विषय हैं वह ही व्यक्त रहते हैं अर्थात् दिखाई पड़ते हैं और प्रतीत होते हैं। मृत्यु के पश्चात् हमारी क्या स्थिति होगी ? यह सब कुछ अव्यक्त रहता हैं हम मृत्यु के पश्चात् की स्थिति को जानने के लिए अनेकों शास्त्रों का आश्रय लेते हैं अथवा अपने से अधिक जानकार महानुभावों से इस सम्बन्ध में वार्ता करते है। जिस महानुभाव से हम वार्ता करते हैं वह भी अपनी मृत्यु के पश्चात् होने वाली स्थिति को वर्णित करने में असमर्थ ही रहता हैं अर्थात् वह भी शास्त्रों के आधार पर कुछ कहता है। उसने भी अनेक महानुभावों से जो कुछ सुना है वह वर्णित करता है परन्तु यह सब प्रमाणिक नहीं है अर्थात् इसका कोई प्रमाण नहीं है। कुल मिलाकर हम शास्त्रों के आधार पर ही मृत्यु के पश्चात् और जन्म

के पूर्व की विवेचना करते हैं। इसलिए हम मात्र व्यक्त विषयों में ही व्यक्त कार्य को प्रमाण मान लेते हैं परन्तु व्यक्त के पीछे अव्यक्त का बहुत बड़ा संसार है जिसको हम देख नहीं सकते। वहां तक हम पहुंच नहीं सकते। हमारा मन और हमारी बुद्धि वहां तक पहुंचने की सामर्थ्य नहीं रखती। हमारा मन और और हमारी बुद्धि केवल व्यक्त विषयों में ही उलझी रहती है और हम व्यक्त विषयों से व्यवहार करके अपना जीवन समाप्त कर लेते है।

(ख) अव्यक्त विषय :–

जो व्यक्त नहीं होता है उसे अव्यक्त कहा जाता है अर्थात् जो प्रतीत नहीं होता जो दिखाई नहीं पड़ता उसे भी अव्यक्त कहते है। चूंकि जो दिखाई पड़ता, प्रतीत होता है जो व्यक्त रहता है उस अव्यक्त का संसार अति विशाल है। हमारा समग्र ब्रह्माण्ड व्यक्त कम है अव्यक्त अधिक है। सूर्य को हम प्रतिदिन देखते हैं परन्तु सूर्य अपने निश्चित समय पर प्रकट हो जाता है और निश्चित समय पर वह अस्त हो जाता है। जो यह निश्चित समय पर प्रकट करने और निश्चित समय पर अस्त करने की व्यवस्था का दायित्व वहन करता है वह कौन है? सूर्य तो व्यक्त होता है परन्तु यह व्यवस्था जो इसे उदय अवश्य करती है वह अव्यक्त रहती हैं उसे हम देख नहीं पाते परन्तु बहुत विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ऐसी कोई व्यवस्था है अवश्य जो सूर्य को प्रकट और अप्रकट करती है। उसे उदय अस्त करता है। अर्थात् समय से निकलती है और समय से डूबो देती है। उसका कार्य तो प्रतीत होता है परन्तु कार्य के पीछे जो कार्य को प्रकट करने वाली सत्ता है वह अव्यक्त रहती है हमें दिखाई नहीं पड़ती है। हम उसका आभास नहीं कर सकते।

सूर्य के उदय अस्त होने का तो एक उदाहरण दिया गया। संसार में ऐसे असंख्य उदाहरण है जिनसे उस अव्यक्त सत्ता का तार्किक बोध होता है। जैसे एक दाना मिट्टी में पड़ता है और वह समय के साथ प्रस्फुटित होता है। उससे पौधा निकलता है और पौधा निकल कर एक विशाल वृक्ष का आकार ले लेता है। तो बीज पौधा और वृक्ष तो दिखाई पड़ता है परन्तु जो बीज से पौधा और पौधे से वृक्ष उत्पन्न कर रहा है वह सत्ता हमें दिखाई नहीं पड़ती। हम उसका आभास नहीं कर पाते और न ही उसको देख पाते। हम केवल मान लेते है कि कोई ऐसी अव्यक्त सत्ता है जो बीज से पौधा और पौधे से वृक्ष बना देती है। हम समुद्र का उदाहरण लें इस पृथ्वी की रचना हुए करोड़ों वर्ष बीत गए समुद्र भी तब था पृथ्वी भी तब थी और नित्य निरन्तर अपने काल में रहने वाली मानव जाति उस समुद्र के जल का उपभोग करती रही परन्तु वह जल अभी भी वैसे का वैसा ही है समाप्त नहीं हुआ। यह एक विलक्षण बात है जब तक सृष्टि रहेगी तब तक समुद्र रहेगा। जल का

अभाव नहीं रहेगा। यह निश्चित है। जल का अभाव नहीं रहेगा इस अभाव को भाव में परिवर्तित करने वाली सत्ता है जो व्यक्त नहीं है वह अव्यक्त है। इसी सत्ता के बारे में हमारे शास्त्रों में अनेक प्रकार का वर्णन आता है और हम उस वर्णन को पढ़कर थोड़ा बहुत कुछ जान पाते हैं आभास कर पाते हैं कि वास्तव में जो सत्ता है वह अव्यक्त है और वह व्यक्त होकर अनेक कार्यो का सम्पादन प्रतिपादन करती है। इस प्रकार हम जो कुछ इस संसार ब्रह्माण्ड में देख रहे है वह बहुत सूक्ष्म है तथा जो दिखाई नहीं पड़ता है और अव्यक्त रूप में है वह विशाल है वृहद् है अतुलनीय है। इसकी तुलना किया जा पाना संभव नहीं है। इसलिए व्यक्त से अव्यक्त श्रेष्ठ है। हम अव्यक्त को मानने के लिए बाध्य हैं क्योंकि हम आज व्यक्त है और कल अव्यक्त होने वाले हैं। यदि मनुष्य व्यक्त ही रहता अर्थात् हमेशा जीवित रहता तो वह अव्यक्त को नहीं मानता। परन्तु विडम्बना यह है कि हम कुछ समय के लिए व्यक्त होते हैं अर्थात् मध्य में उपस्थिति होते हैं और कुछ समय बाद स्वतः ही अव्यक्त हो जाते है। फिर भी हम इस अव्यक्त सिद्धान्त को नही मानते हैं केवल जो दिखाई पड़ता है उसे ही सब कुछ समझ लेते हैं। परन्तु हमे यह निश्चित रूप से मानना चाहिए कि व्यक्त सत्ता बहुत विशाल है उसका कोई आर पार नहीं है और जो अव्यक्त को व्यक्त कर रहा है वह स्वयं भी अव्यक्त है परन्तु हम सभी को व्यक्त कर देता है।

2– श्री भगवान के बारे में तीन मत :–

(क) श्री भगवान को सामान्य पुरुष मानना :–

अनेक महानुभाव श्री भगवान को सामान्य पुरूष की श्रेणी में रखते हैं और उनका यह विचार है कि जैसे हम सभी सामान्य पुरूष है वैसे ही श्री भगवान हैं। वे चूंकि अवतारवाद के सिद्धान्त को नहीं मानते इसलिए श्री भगवान को कोई विशिष्ट सत्ता नहीं मानते हैं। उनके इस विचार का कोई पुष्ट आधार तो नहीं है वे मनमाने ढंग से अपने विचार को पुष्ट करते है। उनका यह कहना है कि जिस प्रकार हम सभी ने जन्म लेकर अपनी जीवन यात्रा पूरी की है। वैसे ही श्री भगवान ने भी पूरी की। उन्होंने कुछ विशेष कार्य किये अर्थात् अपने समय में ऐसे कार्य किये जिससे वह प्रसिद्ध हो गए। चूंकि कर्म की प्रकृति को उन्होंने आगे बढ़ाया और कर्म को ही अपने जीवन का आधार माना तथा वह

जीवन भर कर्मो का सम्पादन करते रहे इसलिए हम सभी मनुष्यों की तरह से वह भी मनुष्य है। अन्य कुछ नहीं है। श्री भगवान को सामान्य पुरूष मानने की जो अवधारणा है उसका कोई आधार तो न हीं है। केवल विचार ही आधार है।

(ख) श्री भगवान को महापुरुष मानना :–

प्रत्येक काल में इस पृथ्वी पर अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया और उन्होंने समाज की सेवा के लिए अनेक विशेष कार्य किए। इसलिए उनको महापुरुष कहा जाता है। अनेक महापुरुष अपने समय में लोगों को एक मार्ग देते हैं या अपने साधना, कर्म, तथा सेवा के आधार पर एक नई ज्योति देते हैं। इसलिए ऐसे पुरुषों को महापुरुष कहा जाता है। एक सामान्य व्यक्ति अपना जीवन अपने परिवार और स्वयं के पोषण के लिए समाप्त कर देता है परन्तु महापुरुष इससे अलग हटकर लोगों की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करता है। समाज के सुधार के लिए बहुत प्रयास करता है। अपनी तपस्चर्या के आधार पर दूसरों के सामने उदाहरण प्रस्तुत करता है इसलिए उसे महापुरूष कहा जाता है। अनेक लोगों का श्री भगवान के बारे में यह मानना है कि श्री भगवान भी एक महापुरुष थे जिन्होंने अपने काल में कुछ विशिष्ट कार्य किए। अधर्मीजनों का संहार किया और धर्म की स्थापना की। समाज को एक नई गति दी एक नवीन दिशा दी इसलिए वे महापुरुषों की श्रेणी में आते है। श्री भगवान को महापुरुष मानने का कोई विशिष्ट आधार नहीं है मात्र उनके कर्मो को देखकर उनके बारे में जानकर ही लोग उन्हे महापुरुष की संज्ञा देते हैं।

(ग) श्री भगवान को परमात्मा के स्वरूप में मानना :–

असंख्य लोगों का यह मानना है कि श्री भगवान इस धरा धाम पर अवतरित हुए थे। उन्होंने इस पृथ्वी पर ऐसे विशिष्ट कर्म किए जिससे उन्हें उस सत्ता की श्रेणी में रखा जाता है जो सत्ता इस जगत का प्रभव, पालन और प्रलय करती है। वह सत्ता इस जगत में स्वयं भी अवतरित हो रही है। असंख्य महानुभाव श्री भगवान को उस सत्ता के रूप में मानते हैं। श्री भगवान चिंतन के योग्य हैं। वे ही जानने के योग्य हैं और श्री भगवान का चिंतन करके उनको जानकर हम उस स्थिति तक पहुंच सकते हैं इसके लिए गीता बार बार संकेत करती है। वह स्थिति है पुनः पुनः जन्म से मुक्त होने की बार बार इस पृथ्वी

पर न आने की। यहां पर दो तथ्य हैं। कुछ महापुरुष विशिष्ट होते हैं परन्तु वे चिंतन के योग्य नहीं होते हैं क्योंकि उनके कर्म श्रेष्ठ होते हैं उन कर्मो का आश्रय लेकर हम साधना की उंचाई तक जा सकते हैं परन्तु वे श्री भगवान की तरह से चिंतन का विषय नहीं हो सकते जैसा कि श्री भगवान हो सकते हैं। यही महापुरूष और श्री भगवान का अंतर है। आज समूचे विश्व में श्री भगवान के असंख्य भक्त हैं। असंख्य मंदिर हैं जिनमें श्री भगवान को उस सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है जो सत्ता इस जगत का निर्माण करती है और पालती पोषती है और समय के साथ इसका संहार भी कर डालती है। श्री भगवान को उस परम सत्ता के पर्याय के रूप में मानने के आधार हैं। श्री गीता जी में उन्होंने अपने को परम सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए हम इसको स्वीकार करने के लिए बाध्य है।

3– श्री भगवान को सामान्य पुरुष मानने का निषेध :–

श्री भगवान ने श्री गीता जी में उन व्यक्तियों को सचेत किया है जो श्री भगवान को एक व्यक्ति के रूप में मानते हैं। श्री गीता जी के सातवें अध्याय के 24वें श्लोक और 9वें अध्याय के 11वें श्लोक में इस प्रकार का कथन है कि जो श्री भगवान को सामान्य पुरूष मानते है वे बुद्धिहीन है और मूर्ख है। श्री भगवान द्वारा कहे गए इन दोनों श्लोकों का अवलोकन कीजिए–

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। 7/24।।

श्री भगवान ने कहा जो मेरे अति उत्तम अविनाशी परम भाव को स्वीकार न करके मुझ अव्यक्त सत्ता को व्यक्ति के स्वरूप में प्राप्त हुआ मानते है वे बुद्धिहीन हैं। अपनी सत्ता को प्रकट करने के लिए उन्होंने **अबुद्धयः** का प्रयोग किया है।

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषी तनुमाश्रितम्।

परं भावमाजन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। 9/11।।

श्री भगवान ने कहा कि मेरे परम भाव को न जानने वाले मूर्ख मनुष्य मेरे को सामान्य मनुष्य का शरीर ग्रहण करने वाला मानते है। जबकि मैं समस्त प्राणियों का महान ईश्वर हूं। ऐसा मेरे बारे में वह नहीं जानते।

श्री भगवान ने इन दोनों श्लोकों में यह स्पष्ट किया हैं कि जो लोग मुझे सामान्य पुरूष मानते हैं वह बुद्धिहीन और मूर्ख हैं। श्री गीता जी इसी सिद्धान्त का समर्थन करती है।

4– अवतारवाद का सिद्धान्त :–

जो सत्ता अव्यक्त है वह क्या प्रकट होती है ? अर्थात् वह इस संसार में क्या कभी उपस्थित हो जाती है? यह एक बड़ा प्रश्न है। अनेक लोग इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। वे यह नहीं मानते कि अव्यक्त सत्ता इस संसार में प्रकट होती है। उनका यह मानना है कि परमात्मा निराकार है वह प्रकट नहीं होता। वह अप्रकट ही रहता है और अप्रकट रहकर वह समस्त कार्यो का संचालन करता है। परन्तु अनेक महानुभावों का यह मानना है कि वह अव्यक्त सत्ता प्रकट होती है। अर्थात् इस संसार में उपस्थित होती है और संसार में उपस्थित होकर वह धर्म का प्रतिपादन करती है तथा अधर्म का विनाश करती है। उस अव्यक्त सत्ता के व्यक्त होने को भी अवतारवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। भगवद्गीता इस अवतारवाद के सिद्धान्त का समर्थन करती है और यह स्पष्ट करती है कि वह सत्ता जो अव्यक्त है वह प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में भगवद्गीता के चौथे अध्याय में दो श्लोकों में यह स्पष्ट किया गया है कि अवतारवाद का सिद्धान्त सही है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। 4/7।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। 4/8।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन जब जब अर्थात् जिस समय धर्म का पतन हो जाता है और अधर्म का उत्थान हो जाता है उस समय मैं ही अपने स्वरूप की रचना करता हूं। अर्थात् इस पृथ्वी लोक पर अवतरित हो जाता हूं, जो श्रेष्ठ महानुभाव है, उनको समर्थन और आश्रय देने के लिए तथा जो दूषित कर्म करने वाले मनुष्य हैं उनको नष्ट

करने के लिए और धर्म की भली प्रकार स्थापना करने हेतु मैं युग युग में अपने को प्रकट कर देता हूं।

भगवद्गीता का यह श्लोक अवतारवाद के सिद्धान्त को पुष्ट करता है कि वह परम सत्ता प्रकट होती है,अवतरित होती है अर्थात् जब जब संसाार में अधर्म की वृद्धि हो जाती है तब उस सत्ता का प्रकटीकरण होता है। इस प्रकार गीता की मान्यता के अनुसार अवतारवाद का सिद्धान्त सही है। इसलिए गीता अवतारवाद के सिद्धान्त का समर्थन करती है। जो महानुभाव अवतारवाद के सिद्धान्त को नही मानते हैं अर्थात् उसका समर्थन नहीं करते है उन्हे श्री गीता जी के इस श्लोक का अध्ययन करना चाहिए।

(क) परमात्मा के अवतरण पर संदेह :–

अनेक महानुभाव अवतारवाद के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। परन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि परमात्मा सर्वसमर्थ्यवान है। हम सभी जो आस्तिक है ? जो परमात्मा की सत्ता में विश्वास रखते है। हम उसे स्वीकार करते है कि वह प्रत्येक कार्य कर सकता है अर्थात् उसके लिए कुछ असंभव नहीं है। जब वह प्रत्येक कार्य कर सकता है तब वह अवतरित क्यों नहीं हो सकता। यदि वह अवतरित नहीं हो सकता तो वह सर्वसामर्थ्यवान कैसे हो सकता है? या तो उसे हम सर्वसामर्थ्यवान न माने। जब वह सब कुछ कर सकता है तब वह प्रकट भी हो सकता है। गीता इसी तथ्य का समर्थन करती है। यदि हम उसके अवतरित होने पर संदेह करते हैं तो इसका अर्थ है कि परमात्मा कि सामर्थ्य पर संदेह करते हैं। इसलिए हमें उस परमात्मा की सामर्थ्य पर कोई संदेह नहीं हैं तो उसके अवतरित होने पर भी कोई संदेह नहीं होना चाहिए। जैसे भूतकाल में अनेक घटनाऐं हुई कुछ पुस्तकें परमात्मा के द्वारा संदेश के रूप में आयीं, ऐसा माना जाता है। और यह मान्यता बहुत प्रामाणिक मानी जाती है। यद्यपि परमात्मा के द्वारा कोई संदेश दिया गया तो वह इस पृथ्वी लोक पर कैसे आया ? यह विचार का विषय है। परन्तु इसके साथ मान्यता इतनी पुष्ट है कि उसमें संदेह नहीं किया जाता। क्योंकि ऐसा कहीं लिखा हुआ है कि परमात्मा ने मनुष्य को कोई संदेश दिया है तो यह एक प्रकार का पुस्तक का अवतरण ही है अर्थात् परमात्मा का संदेश अवतरित हुआ। इस तथ्य को हम आज सिद्ध नहीं कर सकते। केवल ऐसा कहीं पर लिखा हुआ है उसी को मान लेते है अर्थात् हमारे पास ऐसा कोई आधार नहीं है। ऐसा

कोई यंत्र नहीं है जिससे हम परमात्मा के द्वारा दिए गए संदेश को प्रमाणित कर सकें। हम केवल लिखी लिखाई बातों को मान रहे हैं। जब हम लिखी लिखाई बातों को मान रहे है तो भगवद्गीता में भी परमात्मा के अवतरण के बारे में स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि वह परमात्मा अवतरित होता है। यदि परमात्मा का संदेश अवतरित होता है तो परमात्मा स्वयं भी अवतरित होता है। इसलिए इस सम्बंध में कोई संदेह नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह अव्यक्त विषय है व्यक्त नहीं है। केवल लिखी हुई बात को स्वीकार करने का प्रश्न है। जब हम पुस्तक के अवतरण के सिद्धान्त को स्वीकार करते है तो यह परमात्मा का अवतरण भी एक प्रकार से संदेश की अवतरण की तरह की घटना है। हम अपनी मान्यता को तो पुष्ट रखना चाहते हैं। उसे स्वीकार करते हैं और दूसरे की मान्यता को अस्वीकार करते है। यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। श्री गीता जी का समस्त ज्ञान और संदेश अवतारवाद के सिद्धान्त पर ही आधारित है, जो लोग अवतारवाद के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं उन्हे यह विचार करना चाहिए कि क्या परमात्मा सर्वसामर्थ्यवान है अथवा नहीं। हम यदि अवतारवाद के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं तो परमात्मा की सामर्थ्य पर भी संदेह प्रकट करते हैं। इसलिए गीता के मतानुसार अवतारवाद का सिद्धान्त सही है।

(ख) अवतारवाद के सिद्धान्त को न मानने से सिद्धान्त विनिष्ट नहीं होताः–

हम जब किसी सिद्धान्त को नहीं मानते हैं और उसे अपने मतानुसार देखते हैं तो वह सिद्धान्त विनिष्ट नहीं होता वरन् अपने को सिद्धान्त न मानने के कारण हम स्वयं अपने को दूषित कर लेते है। हमारे मत में किसी सिद्धान्त के प्रति अगर प्रतिकूल भाव है तो हमें उस सिद्धान्त के बारे में गहनता से विचार करना चाहिए कि क्या यह सिद्धान्त सही हो सकता है अथवा नहीं ? विशेष कर आध्यात्मिक विषयों में यह तथ्य उपस्थित हो जाता है। चूंकि आध्यात्मिक विषय अर्थात् परमात्मा जीव और प्रकृति का जो विषय है वह गूढ़ है। इसमें शास्त्र, महापुरूषों के वचन और स्वयं का अपना अनुभव यह तीन तथ्य आधार होते है। इसमें इन तीन आधारों में शास्त्र का जो आधार है वह सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है क्योंकि वहां तक हमारी पहुंच नहीं है। मनुष्य प्रकृति के द्वारा निर्मित होता है और परमात्मा के अंश जीव द्वारा चेतन अवस्था प्राप्त करता है। परन्तु परमात्मा इससे बहुत आगे का विषय है। प्रकृति को जड़ माना जाता है जीव को चेतन माना जाता है। परमात्मा तो परम चेतन सत्ता है। जड़ चेतन को नहीं जान सकता। इसलिए जब तक यह अवस्था

प्राप्त न हो जाए कि हम अपने अंदर उपस्थित चेतन सत्ता को जाने और चेतन सत्ता के बोध से उस परम सत्ता का बोध कर ले तब तक हमारा अनुभव कोई अर्थ नहीं रखता। अधिकांश साधक मनुष्य के कारणस्वरूप उपस्थित प्रकृति तक ही नहीं पहुंच पाते हैं। जीव और परमात्मा इससे आगे की विषय वस्तु है। इसलिए हम अपने अनुभव से अवतारवाद के सिद्धान्त को न माने तो यह कोई प्रमाणिक बात नहीं होगी और इससे सिद्धान्त विनिष्ट नहीं होता। इसलिए हमारे न मानने से अवतारवाद के सिद्धान्त पर कोई अंतर नहीं पड़ता। गीता का मत स्पष्ट है कि परमात्मा अवतरित होता है और अवतारवाद का सिद्धान्त सही है।

(ग) अवतारवाद के सिद्धान्त के समर्थन में विराट स्वरूप का प्रदर्शन :–

अवतारवाद के सिद्धान्त को प्रमाणित रूप देने के लिए श्री भगवान ने अपने विराट स्वरूप का प्रदर्शन किया है। श्री गीता जी के 11वें अध्याय में अर्जुन ने जब यह कहा कि हे भगवन ! आप ने मुझ पर कृपा की है और इस परम गोपनीय अध्यात्म सम्बन्धी प्रवचन दिया है। जिससे मेरा अज्ञान समाप्त हो गया है। मैने आप से समस्त प्राणियों के उद्भव और समापन को भी विस्तृत रूप में ग्रहण किया है और अव्यव स्वरूप का भी महात्म्य सुना है। आप अपने सम्बन्ध में जैसा वर्णन करते हैं वह सम्यक् रूप से वैसा ही है। परन्तु मैं आपके ऐश्वर्य युक्त स्वरूप को देखने की इच्छा करता हूं। हे भगवन ! यदि मेरे द्वारा आपका वह ऐश्वर्य स्वरूप देखा जाना संभव हो तो मुझे उस स्वरूप का दर्शन कराइए। श्री भगवान ने अर्जुन की यह प्रार्थना स्वीकार की और उन्होंने अपने स्वरूप का दर्शन कराया। श्री भगवान के द्वारा प्रस्तुत किया गया यह विराट स्वरूप अवतारवाद के सिद्धान्त को पुष्ट करता है। विश्व के इतिहास में ऐसी कोई घटना नहीं घटी जैसी विराट स्वरूप के प्रदर्शन में घटी। श्री भगवान के विराट स्वरूप का वर्णन भगवद्गीता के 11वें अध्याय में विस्तार से किया गया है उसका अवलोकन कीजिए।

पश्य में पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रषः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।। 5।।
पश्यादित्यान्वसून्रूद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।। 6।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।। 7।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम।। 8।।

श्री भगवान ने कहा हे पार्थ अब आप मेरे सैकड़ों और हजारों नाना विधियों के और अनेक वर्ण तथा आकृति वाले दिव्य रूपों को देख। हे अर्जुन ! आदित्यों को, आठ वसुओ को, 11 रूद्रों को, दोनो अश्विनी कुमार, 49 मरुद्गणों को देख और इससे पूर्व कभी न देखे गए आश्चर्यप्रद स्वरूप का भी अवलोकन कर। हे अर्जुन! इस मेरी देह में एक स्थान पर चर और अचर सहित समग्र संसार का अवलोकन कर इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी देखने की आकांक्षा करता है उसका भी अवलोकन कर। परन्तु मेरे इस विराट स्वरूप को अपने नेत्रों के द्वारा देखने में तू सक्षम नहीं है। इसलिए मैं तुमको दिव्य नेत्र प्रदान करता हूं जिससे तू मेरे ऐश्वर्य और योग शक्ति को देख सके।

संजय उवाच :–

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।। 9।।

हे राजन ! उन महायोगेश्वर भगवान श्री हरि ने ऐसा बोलकर उसके उपरान्त अर्जुन को अपना परमयुक्त अलौकिक स्वरूप का दर्शन कराया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।। 10।।

दिव्यामाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।। 11।।

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।। 12।।

उस विराट स्वरूप में अनेक मुख और नेत्र थे। अनेक प्रकार के अलौकिक स्वरूप थे। दिव्य आभूषण थे। दिव्य शस्त्र थे और वह विराट स्वरूप अलौकिक माला और वस्तुओं को ग्रहण किये हुए था। अलौकिक गंध का सम्पूर्ण विराट स्वरूप में लेपन किये था। सभी प्रकार से वह अनन्त विराट स्वरूप सभी ओर मुख किए हुए था। ऐसे विराट स्वरूप का अर्जुन ने अवलोकन किया। जिसमें यह स्पष्ट हुआ कि जैसे आकाश में हजार सूर्यो के एक साथ प्रकट हो जाने पर जैसा प्रकाश उत्पन्न होता है उससे अधिक प्रकाश उस विराट स्वरूप में था।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्सनं प्रविभक्तमनेकधा।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।। 13।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।। 14।।

अर्जुन ने उस विराट स्वरूप में अनेक विधियों से पृथक् पृथक् बटे हुए समग्र संसार को देवो के देव श्री भगवान के शरीर में एक स्थान पर उपस्थित देखा। उसके उपरान्त विस्मय से युक्त होकर और रोमांचित स्थिति में अर्जुन ने अपने मस्तक को पृथ्वी पर रखकर और हाथों को जोड़कर यह कहा–

अर्जुन उवाच –

पश्यामि देवांस्त्व देव देहे

सर्वांस्थताा भूतविशेषसंङान्।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ–

मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।। 15।।

हे देवो के देव श्री भगवान ! मैं आपके इस विराट स्वरूप में समग्र देवताओं को तथा अनेक प्राणियों के समुदायों को कमल पर विराजमान प्रजापति ब्रह्मा को भगवान शंकर को और समग्र ऋषियों को तथा अनेक अलौकिक सर्पो को देख रहा हूं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूप।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम।। 16।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता–

द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।। 17।।

हे विश्वेश्वर ! आपके विराट स्वरूप में अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्र हैं तथा सब ओर अनन्त स्वरूप हैं। हे विश्वरूप! आपका आदि, अन्त और मध्य प्रतीत नहीं हो रहा है। आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त और सब प्रकार से प्रकाशयुक्त तेज की राशि तथा जलते हुए अग्नि और सूर्य के समान देख रहा हूं। हे अप्रमेयस्वरूप आपको देखना भी कठिन हो रहा है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस्त्वं पुरूषो मतो मे।। 18।।

हे भगवन ! आप ही जानने के योग्य है परम अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रम्ह है आप ही इस जगत के आश्रय है आप ही शाश्वत धर्म के संरक्षक है आप अविनाशी शासक पुरूष है ऐसा मेरा विचार है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य–

मनन्तबाहुं शषिसूर्यनेत्रम्।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं

स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।। 19।।

आपमे न तो आदि है न अन्त है न मध्य है और अनन्त पराक्रम है। असंख्य भुजाऐं हैं चन्द्र और सूर्य के समान आपके नेत्र हैं। अग्नि के समान जलते हुए मुख हैं। आप अपने तेज से इस संसार को जला रहे हैं। ऐसा मैं स्पष्ट देख रहा हूं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि

व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वादभुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।। 20।।

अमी हि त्वां सुरसंङा विशन्ति

केचिद्भीताः प्राञजलयोगृणन्ति।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसद्सङाः

स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।। 21।।

हे महात्मन ! यह स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य का जो अंतर है और सब दिशाऐं है वे सब एक मात्र आप में ही व्याप्त हैं आपके इस अद्भुत भयंकर स्वरूप को देखकर तीनों लोक अत्यंत व्यथित हो रहे हैं। सभी लोग तथा देवताओं के समूह आप में ही प्रविष्ट हो रहे हैं। अनेक भयभीत होकर हाथों को जोडे हुए आपकी कीर्ति का बखान कर रहे हैं। अनेक महर्षि और सिद्धों का समुदाय कल्याण हो ऐसा बोलकर श्रेष्ठ मंत्रों द्वारा आपकी वंदना कर रहे है।

रूद्रादित्या वसवो ये च साध्या

विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङा

वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।। 22।।

ये 11 रूद्र, 12 आदित्य, तथा 8 वसु साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्रगण और पितरो का समुदाय तथा गन्धर्व यक्ष, राक्षस और सिद्धो के समुदाय वे सबके सब अत्यंत आश्चर्यचकित होकर आपको देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं

महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं

दृष्टवा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।। 23।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्ण

व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा

धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।। 24।।

हे महाबाहो ! आपके अनेक मुख और अनेक नेत्रों वाले अनेक हाथ जंघा, और पैरों से युक्त बहुत उदरों वाले बहुत सी दाढ़ों वाले अत्यंत भयंकर महान रूप को देखकर सभी लोग व्यथित हो रहे हैं और मैं भी स्वयं व्यथित हो रहा हूं क्योंकि हे विष्णो! आकाश को छूने वाले प्रज्जवलित अनेक वर्णो से युक्त फैलाए हुए मुख तथा प्रज्ज्वलित विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर मैं भयभीत हो रहा हूं तथा धैर्य और शान्ति को नहीं प्राप्त कर रहा हूं।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि

दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।

दिशो न जाने न लभे च शर्म

प्रसीद देवेश जगन्निवास।। 25।।

दाढ़ों के दिखने से आपका स्वरूप और भी विकराल हो गया तथा प्रलय के समय अग्नि के समान जलते हुए आपके अनेक मुखों को देखकर दिशाओं का भ्रम हो गया है। ऐसी स्थिति में मुझे सुख नहीं मिल रहा है। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हो।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सर्वे सहैवावनिपालसंङे।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ

सहस्मदीयैरपि योधमुख्यैः।। 26।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु

सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङेः।। 27।।

कौरव पक्ष के सभी लोग धृतराष्ट्र के पुत्र, राजाओं के सहित आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं। पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण और हमारे पक्ष के अनेक योद्धागण आपके

विकराल दाढ़ों तथा भयानक मुखों में वेग से प्रविष्ट हो रहे हैं। अनेक तो चूर्ण हुए मस्तक सहित दांतों के मध्य चिपके हुए दिख रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।। 28।।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका–
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।। 29।।
लोलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता–
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलशि।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।। 30।।

जिस प्रकार नदियों का प्रवाह समुद्र के समक्ष वेग से प्रवेश करता है वैसे ही इस पृथ्वी के अनेक योद्धागण आपके जलते हुए मुख में प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतंगा स्वयं को समाप्त करने के लिए जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर जाता है वैसे ही सभी योद्धागण अपने विनाश के लिए आपके मुखों में तेजी से प्रवेश कर रहे हैं। समस्त लोकों को जलते हुए मुखों द्वारा आप ग्रास बना रहे हैं और सब ओर से बारम्बार चाट रहे हैं। आपका यह भयंकर और प्रज्ज्वलित स्वरूप सम्पूर्ण संसार को तेज के समान व्याप्त होकर तपा रहा है।

आख्याहि में को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।। 31।।

हे भगवन! कृपा करके मुझे बताइए कि आप उग्र रूप वाले कौन है? हे देवो के देव! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। हे आदि पुरुष आपको मैं जानने की आकांक्षा करता हूं क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को मैं समझ नहीं पा रहा हूं।

विराट स्वरूप का यह प्रदर्शन अवतारवाद के सिद्धान्त को पुष्ट भी करता है और उसका आधार भी है। जो लोग इस अवतारवाद के सिद्धान्त को नहीं मानते है तो वे गीता के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। जैसा श्री गीता जी में वर्णित किया गया है वैसा हम मानने के लिए बाध्य हैं क्योंकि जैसा अन्य लोग अपने मत के बारे में मानते है वैसा हम भी भगवद्गीता में वर्णित तथ्यों को आधार मानकर उसको स्वीकार करते हैं। इसलिए अवतारवाद का यह सिद्धान्त पूरी तरह से सत्य है। उसमें मिथ्या की कहीं प्रतीति नहीं होती और हम सभी को इसे स्वीकार करना चाहिए।

5– भगवद्गीता में श्री भगवान की सत्ता :–

श्री भगवान ने श्रीगीता जी में अनेक प्रसंगों में अपनी सत्ता का निरूपण किया है और यह स्पष्ट किया है कि पह सत्ता हैं जो इस संसार का पालन पोषण करती है, प्रकट करती है, तथा समय के साथ विनष्ट कर देती है। उसी सत्ता के प्रकटीकरण हेतु श्री भगवान ने जिन स्थलों पर अपने को प्रकट किया है उन स्थलों का यहां वर्णन किया जाता है।

1– तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 2/61।।

उपरोक्त प्रकरण दूसरे अध्याय के स्थिरप्रज्ञता विषय का है। इसमें ध्यान के विषय का वर्णन हुआ है। श्री भगवान ने यह कहा कि समस्त इन्द्रियों को संयमित करके साधक मेरे आश्रय में होकर ध्यान लगाये। क्योंकि जिस साधक की इन्द्रियां वश में होती है उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। इस स्थल पर **मत्परः** पद का प्रयोग हुआ है। अर्थात् ध्यान योग साधन में श्री भगवान के आश्रय में रहकर जो ध्यान होता है उसमें सिद्धि मिलती है। मत्परः पद के प्रयोग में श्री भगवान ने ध्यान के साधन में अपने को आश्रय के स्वरूप में कहा है।

जब तक श्री भगवान का आश्रय नहीं होता है तब तक साधक को सिद्धि भी नहीं मिलती है क्योंकि परमात्मा का आश्रय ही ध्यान की सिद्धि में हेतु कहा जाता है। इसलिए यहां पर जो आश्रय है वह उस सत्ता की ओर संकेत कर रहा है जो परम है।

2— श्री भगवान उवाच —

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठ पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। 3/3।।

उपर्युक्त श्लोक तीसरे अध्याय के आरम्भ का है इसमें श्री भगवान ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर दिया है और दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन करते हुए कहा कि हे अर्जुन इस संसार में दो तरह की निष्ठा अर्थात् साधनों का वर्णन मेरे द्वारा पूर्व में भी कहा गया था। क्योंकि सांख्ययोगियों की निष्ठा ज्ञान योग में होती है और कर्मयोगियों की निष्ठा कर्मयोग में होती है। इस प्रकरण में श्री भगवान ने स्पष्ट किया कि जिस साधनों का वर्णन इस स्थल पर आपके समक्ष में कर रहा हूं वह इससे पहले भी मेरे द्वारा कई बार किया जा चुका है। सृष्टि के आदिकाल में भी दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन श्री भगवान ने किया था उसी की ओर संकेत करते हुए **पुरा प्रोक्ता** का प्रयोग किया गया है। पूर्व में इन दो प्रकार के साधनों का उल्लेख किया जाना श्री भगवान की सत्ता को प्रत्यक्ष करता है।

3— न मे पार्थस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। 3/22।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। 3/23।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। 3/24।।

यह प्रकरण तीसरे अध्याय का है। इसमें श्री भगवान ने अपनी इस सत्ता का स्पष्ट निरूपण किया है और यह कहा है कि हे अर्जुन ! तीनों लोकों में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य कर्म नहीं है और न ही कोई ऐसी वस्तु है जो हमे प्राप्त न हो फिर भी कर्तव्य कर्म न होते हुए भी और कुछ प्राप्त न करने योग्य होने पर भी मैं कर्मो का आचरण करता हूं क्योंकि यदि मैं सम्यक् रूप से कर्मो का आचरण न करूं तो संसार में अव्यवस्था फैल जाए। क्योंकि मनुष्य सभी प्रकार से मेरे मार्ग का ही अनुगमन करते है। यदि मैं कर्मो का आचरण न करूं तो संसार में अव्यवस्था फैलने के कारण सभी मनुष्य विनिष्ट हो जाए और इसका मैं ही कारण बनूं अर्थात् अपनी समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला कहलाऊ।

इन उपर्युक्त श्लोकों में जिन तथ्यों का वर्णन श्री भगवान ने किया है वह भी उनकी विशिष्ट सत्ता का निरूपण करता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्तव्य कर्म होते हैं उस परम सत्ता के लिए कर्तव्य कर्म नहीं होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ न कुछ प्राप्त करने योग्य होता है चाहें वह किसी भी स्वरूप में हो परन्तु उस परम सत्ता के लिए कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं होती। क्योंकि वह ही सबका स्वामी है। परमात्मा अपने कर्मो में सम्यक् रूप से बर्ताव करता है और यह ध्यान रखता है कि वह कोई ऐसा कर्म न करें जिससे संसार में नैतिक पतन हो जाए अथवा अव्यवस्था फैल जाए। इसलिए परमात्मा को समस्त कर्म बहुत ध्यान से करने पड़ते हैं। यदि परमात्मा ही अपने कर्मो को सम्यक् रूप से न करें तो अन्य व्यक्ति भी वैसा अनुकरण करके ऐसे कर्म करने लग जायेंगे जिससे इस संसार का विनाश निश्चित है। इसलिए उपर्युक्त श्लोकों में श्री भगवान ने अपनी परम सत्ता का निरूपण किया है।

4– मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः। 3/30।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठिन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुचयन्ते तेऽपि कर्मभिः।। 3/31।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति में मतम्।

सर्वज्ञानविमूढ़ांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।। 3/32।।

उपरोक्त प्रकरण भी तीसरे अध्याय का है। इसमें श्री भगवान ने समस्त कर्मो का अर्पण करने की बात कही है और यह कहा है कि मेरे में ही अपने चित्त का अर्पण करके सम्पूर्ण कर्मो को मेरे में अर्पित करें तथा आशारहित, ममता रहित और संताप रहित होकर अपने कर्तव्य कर्म का पालन करें। जो कोई भी साधक दोषरूपी दृष्टि को हटाकर श्रद्धा से भरकर मेरे इस विचार का अनुगमन करते हैं वे सम्पूर्ण कर्मो से मुक्त हो जाते हैं और जो लोग मुझमें दोषदृष्टि रखते हैं और मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते हैं वे मूर्ख मनुष्य समस्त प्रकार के ज्ञान से मोहित होकर नष्ट हो जाते है।

श्री भगवान ने इसमें प्रत्येक मनुष्य को अपने चित्त को श्री भगवान में अर्पित करने के लिए कहा है और संसार से आशा हटाकर ममता हटाकर और अनेक प्रकार के द्वंद्वों से रहित होकर कर्तव्य कर्म करने की सलाह दी है। वस्तुतः जब तक मनुष्य का चित्त संसार में लगा रहता है तब तक उसकी आशा भी संसार से होती है और जिस वस्तु, व्यक्ति के लिए हम चित्त का अर्पण करते है उससे ममता हो जाती है। आशा पूर्ण न होने पर अथवा सम्बंधित व्यक्ति के विनाश की आशंका से मनुष्य में अनेक प्रकार के द्वंद्व स्वतः उत्पन्न होते हैं इसलिए श्री भगवान ने अपने में चित्त लगाने का तथ्य कहा है। परन्तु जो व्यक्ति श्री भगवान के इस मत को मानते हैं उसका अनुकरण करते है वे स्वतः समस्त कर्मो से छूट जाते है तथा जो नहीं मानते हैं उनका निश्चित पतन हो जाता है। इसमें भी श्री भगवान ने अपनी सत्ता का निरूपण किया है तथा उन्होंने स्पष्ट किया है कि मैं ही एक मात्र चिंतन का विषय हूं तथा चिंतन करने योग्य हूं।

5– इमं विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्। 4/1।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।। 4/2।।

उपर्युक्त प्रकरण चौथे अध्याय के आरम्भ का है। जो श्री भगवान की सत्ता का विशेष निरूपण करता है। श्री भगवान ने तीसरे अध्याय अर्थात् कर्म योग का उपदेश समाप्त किया। उसके पश्चात् चौथे अध्याय का आरम्भ किया और यह कहा कि मैने इस

अविनाशी योग को सूर्य के प्रति कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने राजा इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार इस अविनाशी योग को राजर्षियों ने जाना परन्तु यह योग बहुत समय से इस पृथ्वी लोक में प्रचलन में नहीं है।

श्री भगवान ने यह तथ्य स्पष्ट किया है कि मैने इस लोक को सूर्य के प्रति कहा था। सूर्य का उद्भव सृष्टि के आदि में होता है और अन्त में इसका समापन होता है। सूर्य के प्रति कहने का अभिप्राय है कि वह ही परम सत्ता है। जिसने सृष्टि के आदि में सूर्य को यह उपदेश दिया था। उसके पश्चात् परम्परा से यह योग चलता आया और अन्य ऋषियों को प्राप्त हुआ। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि श्री भगवान हैं। श्री भगवान ही वह परम सत्ता है जो सृष्टि के आदि में थे और सृष्टि के अंत तक रहने वाले हैं। उनका कभी विनाश नहीं हो सकता।

6– बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।। 4/5।।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।। 4/6।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में अपनी विशिष्ट सत्ता का प्रकटीकरण किया है और अर्जुन के संदेह का निवारण करते हुए कहा कि हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके है। उन समस्त जन्मों को मैं भली प्रकार जानता हूं परन्तु तुम अपने पूर्व के जन्मों को नहीं जानते हो। मैं अजन्मा हूं अर्थात् मेरा जन्म नहीं होता। मैं अविनाशी हूं अर्थात् मेरा विनाश नहीं होता। अजन्मा और अविनाशी होने पर भी मैं समस्त प्राणी मात्र का ईश्वर हूं तथा अपनी प्रकृति को अपने आश्रय में करके स्वयं की योगमाया से मैं प्रत्यक्ष हो जाता हूं।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में कई तथ्य कहे हैं। पहले में यह कहा कि मैं अपने सब जन्मों को जानता हूं। सामान्य व्यक्ति अपने सब जन्मों को नहीं जानता है। वह इस जन्म के पूर्व जो जन्म हो चुके हैं उनमें एक भी जन्म को नहीं जानता केवल वर्तमान जन्म को जानता है यही ईश्वर और मनुष्य में भेद है। उसके पश्चात् यह कहा मेरा जन्म नहीं होता

जबकि मनुष्य का जन्म होता है। वे अविनाशी है परन्तु मनुष्य विनाशी है। वे समस्त प्राणियों के ईश्वर हैं और समस्त प्राणी उनके अधीन हैं। मनुष्य का जन्म प्रकृति के अधीन होता है और परमात्मा अपनी प्रकृति को अपने अधीन करके स्वयं ही योगमाया के प्रभाव से प्रकट हो जाता है। सामान्य मनुष्य का जन्म होता है परमात्मा का प्रकटीकरण होता है। यही परमात्मा और मनुष्य का अंतर है। उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि श्री भगवान वह परम सत्ता है जो उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करते हैं। इस प्रकरण में भी श्री भगवान ने अपनी विशिष्टता का वर्णन किया है।

7— जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। 4/9।।
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।। 4/10।।

उपरोक्त प्रकरण में श्री भगवान ने अपने जन्म और कर्म की दिव्यता का वर्णन किया है और यह कहा है कि मेरे जन्म और कर्म लौकिक नहीं है अर्थात् अलौकिक है और यदि मनुष्य मेरे जन्म और कर्म की अलौकिकता को जान ले तो वह मानव देह का परित्याग करने के उपरान्त पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता। वरन् मेरे को प्राप्त हो जाता है। जिन मनुष्यों के राग भय और क्रोध पूरी तरह समाप्त हो गए है और जो मेरे आश्रय में पूरी तरह रहते है तथा जो ज्ञान रूप तप से पवित्र हो चुके है वे मेरे भाव को ही अंततः प्राप्त हो जाते है।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने कहा है कि मेरा जन्म भी लौकिक नहीं है और मेरे कर्म भी लौकिक नहीं है। मनुष्य का जन्म इस लोक में एक निश्चित प्रकिया के अधीन होता है। इसलिए मनुष्य लौकिक है। परन्तु परमात्मा का प्रकटीकरण इस संसार में अन्य मनुष्यों के जन्म की तरह नहीं होता है। इसलिए वह अलौकिक है। मनुष्य के कर्म इस संसार में जो भी होते हैं वे सब संसार की वस्तुओं को लेकर होते हैं। संसार में जो वस्तुऐं हैं उन्हीं के आश्रय से मनुष्य कर्म करता रहता है। यदि संसार में वस्तुऐं न हो तो मनुष्य के कर्म समाप्त हो जाए। परन्तु परमात्मा के संदर्भ में ऐसा नहीं है। परमात्मा के कर्म अलौकिक हैं वह समस्त वस्तुओं का निर्माण करता है। जैसे पृथ्वी से अनेक प्रकार के पौधों

की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक पौधों के रंग अलग अलग प्रकार के हैं। परन्तु पौधा उत्पन्न करने में जल, मिट्टी और अग्नि एक ही प्रकार की है। इस प्रकार का जो यह अलौकिक कर्म है यह परमात्मा के आश्रय से होता है। परमात्मा ने इस संसार में सृष्टि के आदिकाल में ही इतनी वस्तुओं का निर्माण कर दिया था। करोड़ों वर्षो से उनका उपभोग करके उन वस्तुओं का समापन नहीं हो रहा है। सृष्टि के आदिकाल से जो वस्तुऐं प्रकट की गई हैं वह सृष्टि के अंत तक चलती है। यह परमात्मा का अलौकिक कर्म ही है। इस संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। परन्तु उनमें पृथकता है। अनेक प्रकार के विचार, हाव भाव प्रकृति, चेष्टा, पृथक्–पृथक् प्रकार की है। मनुष्य तो एक ही प्रकार का है परन्तु उसके व्यवहार में जो भिन्नता है वह परमात्मा की ओर से है। इस प्रकार संसार में अनेक प्रकार के प्राणी है। उनके आकार प्रकार में भिन्नता है उनके कार्य में भिन्नता है तो यह परमात्मा के कर्म की अलौकिकता ही है। इसी प्रकार जिन साधकों में संसार के प्रति लगाव नहीं रह गया है और संसार का भय भी नहीं रह गया है। क्योंकि जब तक राग रहता है अर्थात् संसार के प्रति जब तक आसक्ति रहती है तब तक हमारे अधीन या हमारे सम्पर्क में जो वस्तुऐं अथवा व्यक्ति रहते हैं उनके विनाश का भय अवश्य रहता है और अपनी आकांक्षाओं में बाधा पड़ने पर क्रोध भी प्रकट होता है। जिन साधकों में राग, भय और क्रोध का अभाव हो जाता है वह परमात्मा के आश्रय में चले जाते हैं और जब तक परमात्मा का आश्रय नहीं होता है तब तक राग, भय और क्रोध नष्ट नहीं होते हैं। तब तक वह ज्ञान प्राप्त नहीं होता जिससे परमात्मा का साक्षात्कार हो सके। जिन महापुरूषों में राग, भय, क्रोध नष्ट हो जाता है वही ज्ञान रूप तप से पवित्र हो जाते हैं और वे परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हो जाते है। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकों में भी श्री भगवान ने अपनी विशिष्ट सत्ता का निरूपण किया है।

8– ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। 4/11।।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।। 4/12।।

उपरोक्त प्रकरण में श्री भगवान ने अपनी स्थिति का वर्णन किया है और कहा है कि हे अर्जुन! जो कोई मेरा प्रिय भक्त जिस विधि से मेरा भजन करता है मैं भी वैसे ही उसको भजता हूं क्योंकि सभी मनुष्य सब विषयों से मेरे ही मार्ग का अनुगमन करते हैं। इसके अतिरिक्त इस पृथ्वी लोक में अपने फल की सिद्धि की आकांक्षा वाले अनेक देवताओं का पूजन करते हैं। क्योंकि देवताओं के पूजन से परिणाम शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

श्री भगवान ने इस प्रसंग में यह स्पष्ट किया है कि सभी मनुष्य अंततः मेरे मार्ग का ही अनुगमन करते हैं। मनुष्य कोई भी हो चाहें वह इस पृथ्वी लोक पर सुकर्म करें अथवा दुष्कर्म करे परन्तु मृत्यु के उपरान्त वह श्री भगवान की ही व्यवस्था में जाता है। यह मनुष्य की बाध्यता है। इस बाध्यता का अतिक्रमण करने की शक्ति किसी में नहीं है। हम सब प्रकृति के अधीन तो हैं ही परन्तु प्रकृति के माध्यम से परमात्मा के भी अधीन हैं। क्योंकि प्रकृति परमात्मा के अधीन है। इसलिए हम सभी को प्रकृति का आदेश भी मानना पड़ता है और प्रकृति परमात्मा का आदेश मानने के लिए बाध्य है। इसलिए प्रत्येक प्रकार से परमात्मा की व्यवस्था का ही अनुगमन होता है। इसलिए उस परमात्मा को ही अर्थात् श्री भगवान को ही सब प्रकार से भजना चाहिए।

हम जब संसार में किसी वस्तु स्थिति आदि की आकांक्षा करते हैं तो इस आकांक्षा को लेकर अनेक प्रकार के देवताओं की उपासना करते हैं और उस विधिसंगत उपासना से मनुष्य को उसकी पूजा का परिणाम तो प्राप्त हो जाता है परन्तु जो वस्तु या स्थिति प्राप्त होती है उससे मनुष्य को बंधन हो जाता है। इसलिए श्री भगवान ने इस ओर संकेत किया है कि फल की आकांक्षा का त्याग करके मेरा ही भजन करना चाहिए। इसमें विशिष्टता यह है कि श्री भगवान की स्थिति का और अधिक स्पष्टीकरण होता है क्योंकि श्री भगवान देवताओं और महर्षियों के भी आदिकारण है इसलिए उनको ही भजना एक मात्र अपने कल्याण का विकल्प है।

9– चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। 4/13।।

उक्त प्रकरण में श्री भगवान ने संसार की व्यवस्था के सम्बंध में वर्णन करते हुए कहा है कि चार वर्णो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की रचना गुण और कर्मो के विभाग से मेरे द्वारा ही की गई है। चूंकि मैं सृष्टि के आदि में सृष्टि की रचना का कर्ता हूं। फिर भी सृष्टि रचना जैसा विशालतम कर्म करने के उपरान्त भी मुझ अविनाशी को सृष्टि का उत्पन्न करने वाला न समझ।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने दो तथ्य कहे हैं। एक तो संसार की व्यवस्था को स्पष्ट किया है और दूसरा अपने अकर्ता भाव को स्पष्ट किया है। संसार की व्यवस्था में सृष्टि के आदि से ही चार तरह के व्यक्ति होते हैं। एक प्रकार के वे महानुभाव है जो संसार को ज्ञान देते हैं। दूसरे प्रकार के वे महानुभाव हैं जो संसार में होने वाली अव्यवस्था को अपनी शक्ति सामर्थ्य से ठीक रखते है और तीसरे प्रकार के वे लोग है जो संसार की व्यवस्था में पालन पोषण का काम करते है और चौथे प्रकार के वे विशिष्ट लोग हैं जो संसार की सेवा करते हैं। यह चार प्रकार के पुरुष सृष्टि में आदि से अंत तक रहते हैं। अर्थात् ज्ञान देने वाले गुरुजन, रक्षा करने वाले महानुभाव और पालन पोषण करने वाले मनुष्य तथा सेवा करने वाले महानुभाव प्रत्येक समय में रहते हैं और इन व्यक्तियों की रचना मनुष्य के गुणों और कर्मो के आधार पर होती है। अर्थात् जिस मनुष्य में जिस गुण की प्रधानता होती है उसी गुण के आधार पर कर्मो का निश्चिय होता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि यह व्यवस्था तो श्री भगवान के द्वारा ही रची जाती है और उसका आधार गुण तथा कर्म होते है।

श्री भगवान ने स्पष्ट किया कि सृष्टि जैसे महान कर्म का मैं कर्ता हूं। परन्तु वास्तव में मैं सृष्टि का निर्माण नहीं करता। जैसे हम सभी इस संसार में कोई भी कार्य करते हैं तो उस कार्य का कर्ता अपने को मान लेते हैं। यही संसार में सबसे बड़ी भूल है। अपने को अकर्ता मान लेने पर हम अनेक दोषों से मुक्त हो जाते है। क्योंकि जिस व्यक्ति में जिस प्रकार का गुण होता है अर्थात् जिस गुण से वह प्रभावित होता है वैसे ही वह कर्म करता है। इसलिए मनुष्य के समस्त कार्य सत्त्व, रज, तम आदि गुणों की प्रधानता से होते हैं। मनुष्य कोई कर्म नहीं करता। इसलिए उसे अपने को अकर्ता समझ लेना चाहिए परन्तु हम अपने को कर्ता मान लेते हैं। इसलिए श्री भगवान की दिव्यता इसी कारण है क्योंकि`

सृष्टि रचना जैसे महान कर्म को करने के उपरान्त भी वह अपने को अकर्ता मानते है।

10– न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। 4/14।।

श्री भगवान ने अपनी विशिष्टता का वर्णन करते हुए कहा कि कर्मो के परिणाम में मेरी कोई स्पृहा नहीं है और मेरे को कर्म लिपायमान नहीं करते है। ऐसा जो साधक मुझे जान लेता है वह भी कर्मो के बंधन में नहीं पड़ता है।

इस प्रकरण में कर्मो के परिणाम में श्री भगवान की स्पृहा का न होना और कर्मो में लिप्त न होने का वर्णन हुआ है तथा उक्त दोनों तथ्यों को जो मनुष्य जान लेता है वह श्री भगवान को भी जान लेता है और उसका फिर कर्मो में बंधन नहीं रहता है। प्रत्येक मनुष्य अर्थात् हम सभी जो भी कर्म करते हैं वह अपनी सांसारिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए करते है। संसार में किसी वस्तु या स्थिति की जो आकांक्षा है उसका जो आभास है उसे स्पृहा कहा जाता है और किसी वस्तु या स्थिति की जो आकांक्षा होती है उसकी पूर्ति के लिए ही मनुष्य कर्म करता है। नहीं तो कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम किसी वस्तु या स्थिति को यदि नहीं चाहे तो कर्म नहीं करेंगे। हम वस्तु और स्थिति को प्राप्त करने के लिए कर्म करते है और इससे कर्म में लिप्त होते है तथा इसी से बंधन होता हैं। यदि हमारे कर्म संसार की भलाई के लिए हो और उसमें कर्म फल की आकांक्षा का परित्याग हो जाए तो यह स्पृहारहित कर्म है। स्पृहारहित कर्म तभी होता है जब मनुष्य श्री भगवान को स्पृहारहित जान जाता है। क्योंकि जैसा कर्म श्री भगवान करते हैं वैसा कर्म करना ही हमारे लिए अभीष्ट है। परन्तु हम कर्मफल की आकांक्षा में कर्म करते हैं। यही बंधन का हेतु है। श्री भगवान कर्मफल की आकांक्षा में कर्म नहीं करते। इसलिए उन्हे कर्मफल बांधते भी नहीं अर्थात् उन्हें बंधन नहीं होता। यही तत्त्व प्राप्ति का रहस्य है। और जो साधक इसे जान लेता है उसे पुनः कर्म बंधन नहीं होता। इसलिए श्री भगवान ने इस प्रकरण में भी अपनी विशिष्टता का वर्णन किया है।

11– एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वेरपि मुमुक्षुभिः।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।। 4/15।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहितः।

ततेे कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। 4/16।।

श्री भगवान ने अपनी विशिष्टता का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार मेरी कर्मफल में स्पृहा नहीं है और इसलिए मुझे कर्म बंधन नहीं होता है। उसी प्रकार पूर्व में जो महानुभाव मुक्त हुए हैं उन्होंने भी मेरी तरह ही कर्म किए हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को यह अभीष्ट है कि वह अपने पूर्वजों के द्वारा किए गए कर्मो का ही अनुकरण करे। क्योंकि कर्म अकर्म के विषय में विनिश्चय करने में प्रज्ञावान मनुष्य भी मोहित हो जाता है। इसलिए मैं कर्म के संदर्भ में विस्तृत रूप से वर्णन करूंगा जिससे तू इस दुःखपूर्ण संसार से मुक्ति प्राप्त कर लेगा।

जिन महानुभावों को मुक्ति की आकांक्षा होती है। वे भी श्री भगवान की तरह ही स्पृहारहित कर्म करते हैं। जब मनुष्य को यह ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में संसार में किसी वस्तु या स्थिति को चाहकर कभी कर्म नहीं करना चाहिए तो वह वस्तु और स्थिति की आकांक्षा का परित्याग करके कर्म करने लगता है। यही उसकी मुक्ति में आधार होता है। वस्तुतः जब तक मनुष्य वस्तु और स्थिति की आकांक्षा करता है तब तक वह कर्म बंधन में रहता है और उससे मुक्ति बहुत दूर हो जाती है। इसलिए कर्म अर्थात् शास्त्रसंगत कर्म तथा अकर्म अर्थात् जिससे कर्म बंधन नहीं होता या जो कर्म परिणाम नहीं देते। इसका पृथक्–पृथक् ज्ञान करने के उपरान्त मनुष्य को कर्म बंधन न होने वाले कर्मो का सम्पादन करना चाहिए। श्री भगवान ने इसीलिए इस तत्त्व को समझाकर कहने की बात कही है। वस्तुतः श्री भगवान ही कर्म और अकर्म का विस्तृत ज्ञान रखते हैं और जो यह तथ्य जान जाता है वह भी कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है। इसमें भी श्री भगवान ने अपनी विशिष्टता का अर्थात् कर्म और अकर्म के स्वरूप को जानने वाला बताया है।

12– भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सृहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। 5/29।।

पांचवें अध्याय के अंतिम श्लोक के इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपनी विशिष्ट स्थिति का वर्णन किया है और यह कहा है कि हे अर्जुन्! मेरे को समस्त यज्ञों और तपों

को भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर, समस्त प्राणियों का हित चाहने वाला ऐसा जो समझ लेता है वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् मुक्त हो जाता है।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने तीन तथ्य कहे हैं एक तो श्री भगवान समस्त यज्ञों और तपों के भोक्ता हैं दूसरे समस्त लोकों के ईश्वरों के भी ईश्वर हैं और समस्त प्राणियों का कल्याण करने वाले हैं। इन तथ्यों को जो भली प्रकार समझ कर उसका अनुगमन करता है उसे परम शान्ति मिल जाती है। संसार में जितने प्रकार के भी यज्ञ हैं चाहें वह द्रव्ययज्ञ हो या मानसिक जप सम्बन्धी यज्ञ हों सभी यज्ञों के अभीष्ट श्री भगवान हैं। अर्थात् हम सभी जिस प्रकार का यज्ञ करते हैं उससे जो सूक्ष्म परिणाम होता है उसका भोक्ता परमात्मा ही है और उसी रूप में श्री भगवान प्रतिष्ठित हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य चाहें जिस प्रकार का तप करें चाहें वह स्वाध्यायरूपी तप करें। ज्ञान यज्ञ रूपी तप करे यह लोगों की भलाई रूपी तप करे अर्थात् निस्वार्थ भाव से समस्त प्राणियों की सेवा करे तो सभी प्रकार के तपों के लिए जो विचार आता है वह भी श्री भगवान की ओर आता है और इस विचार के बाद जो क्रिया होती है वह भी श्री भगवान की ओर से ही होती है और जो उसका परिणाम होता है वह भी श्री भगवान को ही जाता है। इसलिए विचार क्रिया और परिणाम श्री भगवान की ओर से ही होने के कारण वह ही समस्त तपों के भोक्ता भी है। ऐसा विशिष्ट भाव श्री भगवान का है।

इस ब्रह्माण में असंख्य लोक हैं। अनेक लोकों का वर्णन हमारे पौराणिक और वैदिक ग्रंथों में आता है। चूंकि ब्रह्माण्ड की सीमा का पता अब तक मनुष्य नहीं लगा पाया है। वह असीमित सा प्रतीत होता है और इसी ब्रह्माण्ड में असंख्य लोक भी हैं। ऐसा कहा जाता है। यह इसलिए कहा जाता है कि मृत्यु के उपरान्त हम कहीं जाते ह ैं? किस लोक में जाते हैं ? ऐसा हमें ज्ञान नहीं है। जन्म के पूर्व भी किसी लोक में थे ? कहां थे ? इसका भी हमे ज्ञान नहीं हैं। इसलिए प्रत्येक लोक में जो व्यवस्था होती है उसका भी कोई व्यवस्थापक अथवा स्वामी होगा। उसे ही श्री भगवान ने एक लोक का ईश्वर कहा है और जितने भी लोक हैं उन सबके जो स्वामी हैं उन समस्त लोकों के स्वामियों के भी स्वामी श्री भगवान हैं। यह एक विशिष्ट भाव है। जो श्री भगवान की स्थिति को स्पष्ट करता है।

कई महानुभाव संसार में लोगों की भलाई का कार्य करते हैं। वह इसलिए करते हैं क्योंकि वे समस्त प्राणियों को अपना सुहृद मानते हैं। अपना प्रिय समझते हैं। हम जब किसी को अपना प्रिय समझते है तो उसके कल्याण की इच्छा रखते हैं और जो अप्रिय समझते है तो उसके अकल्याण की बात विचारते हैं। परन्तु मनुष्य जो भी कार्य अन्य प्राणियों की सेवा के लिए करता है उसमें कमी रह सकती हैं परन्तु श्री भगवान समस्त प्राणियों के प्रिय हैं और हम सभी उनके पुत्र हैं इसलिए वे समस्त प्राणियों के हित के लिए कार्य करते हैं। इस प्रकार इन तीन तथ्यों को यज्ञ और तपों के भोक्ता होने को समस्त लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर होने को और समस्त प्राणियों का प्रेमी होने के तथ्य को जान लेता है वह श्री भगवान को भी प्रणाम करता है। श्री भगवान की ही पूजा उपासना करता है। उनके ही नाम का जप करता है और वह संसार में समस्त प्राणियों का हित करने का विचार रखता है। ऐसा करने से उसे परम शान्ति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार श्री भगवान ने इस प्रकरण में भी विशिष्ट भाव दिया है।

13– प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत् मत्परः।। 6/14।।

श्री भगवान ने इस ध्यान योग के प्रकरण में विशेष तथ्य का वर्णन किया है और यह कहा है कि ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित भय का परित्याग करके और अत्यंत शान्त अंतःकरण वाला साधन में लगा हुआ योगी अपने मन को संयमित करके मुझमें चित्त को लगाकर मेरे आश्रय में ध्यान योग का साधन करे।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने ध्यान के सम्बंध में बहुत विशिष्ट बाते कही हैं और अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मैं ही ध्यान के चिंतन का अभीष्ट हूं। क्योंकि ध्यान में अभीष्ट का ही चिंतन होता है अर्थात् हम जो लक्ष्य रखते है उसी के बारे में चिंतन करते हैं। और वह चिंतन चित्त से होता है। जो तथ्य श्री भगवान ने कहे है उनमें ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिति, समस्त प्रकार के भयों से मुक्ति, अच्छी प्रकार से अपने अंतःकरण को शान्त करना, मन की चंचलता पर विराम लगाना तथा चित्त के चिंतन की गति श्री भगवान की ओर कर देना और श्री भगवान के ही आश्रय में रहना। यह विशेष तथ्य है। इसमें जो सबसे विशेष बात है वह **मत्परः** पद के कारण आयी है। जब श्री भगवान का आश्रय हो

जाता है तो मनुष्य को ब्रह्मचर्य व्रत का ठीक ठीक पालन करने में सहजता होती है। साथ ही जितने प्रकार के भय है चाहे वह लौकिक हों या पारलौकिक हों वे समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि साधक सर्वशक्तिमान श्री भगवान की शरण में चला जाता है। श्री भगवान के आश्रय में होने पर मनुष्य का अंतःकरण भी अत्यंत शान्त और निर्मल हो जाता है। उसमें अयुक्तता नहीं रहती है। मन का संयमन होने लगता है अर्थात् मन का संसार में बार बार जाना रुक जाता है। क्योंकि ध्यान योग में मन बार बार लक्ष्य से भटक कर संसार की ओर भागता है। परन्तु जब हम श्री भगवान का आश्रय ले लेते है तो साधक का मन श्री भगवान की ओर जाता है। हमारा मन उस ओर जाता है जहां हमारा आश्रय होता है। चित्त का भी चिंतन अधिकांशतः संसार की ओर रहता है। यही चिंतन परमात्मा की ओर जब हो जाता है तो जड़ चित्त से परमात्मा का चिंतन होने लगता है। इसलिए इन तथ्यों में श्री भगवान की स्थिति को बहुत स्पष्ट किया गया है।

14– यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। 6/30।।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोक में अपनी स्थिति को विशिष्ट भाव दिया है और यह कहा है कि जो कोई साधक सर्वत्र मेरा दर्शन करता है और समस्त प्राणियों को मेरे में ही अनुभव करता है उसके लिए मैं प्रकट रहता हूं और वह मेरे लिए प्रकट रहता है।

श्री भगवान के द्वारा यह विशिष्ट श्लोक विशिष्ट भाव प्रकट किये हुए है और श्री भगवान की स्थिति को स्पष्ट कर रहा है। वस्तुतः सब प्रकार से श्री भगवान ही हमारे ध्यान योग का विषय है और हमारी तपश्चर्या के अभीष्ट हैं। जब यह भाव उच्च साधक में भर जाता है तब वह समग्र जड़ चेतन में श्री भगवान के ही स्वरूप का दर्शन करता है। वस्तुतः जड़ और चेतन के स्वरूप में जो कुछ भी इस संसार में है वह श्री भगवान ही हैं। श्री भगवान के अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी नहीं है। वह ही संसार के समस्त स्वरूपों में विराजमान है और हमें प्रतीत हो रहे है। श्री भगवान ही जड़ चेतन में विद्यमान है। उनसे जड़ सृष्टि ही होती है और चेतन प्राणियों की चैतन्यता भी प्रकट होती है। इसलिए श्री भगवान सब कुछ हैं। यह भाव सामान्य साधक में नहीं है। विशिष्ट साधक में आ जाता है। सभी को श्री भगवान के स्वरूप में देखने पर किसी के अहित का भाव नहीं रहता है। जब

सर्वत्र श्री भगवान ही है तो किसी के अहित का भाव कहां रहेगा ? सर्वत्र श्री भगवान को ही देखने पर एक मात्र दृष्टि श्री भगवान की ओर जाती है। अन्य कहीं नहीं जाती है। जब सर्वत्र श्री भगवान ही हैं तो उनका दर्शन प्रत्यक्ष होता है और श्री भगवान भी ऐसे साधक के लिए सर्वत्र सब कार्य में उपस्थित रहते हैं। उनकी अनुपस्थिति नहीं होती। वे साधक के लिए प्रकट रहते हैं और साधक उनके लिए प्रकट रहता है। इसमें भी श्री भगवान ने अपनी विशेषतः का वर्णन किया है।

15– सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। 6/39।।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपने विशिष्ट भाव को और विशिष्ट स्थिति को वर्णित किया है और यह कहा है कि जो साधक मेरे में एकत्व भाव से स्थित होकर सभी प्राणियों में आत्मस्वरूप से उपस्थित मुझ परमात्मा का भजन करता है वह सब विधियों से वर्तमान हुआ मुझमें ही व्यवहार करता है।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने एकत्व भाव से स्थिति और समस्त प्राणियों में आत्म स्वरूप से स्थिति रहकर अपने भजन का तथ्य कहा है। हम सभी जिस संसार में रहते है। उस संसार में अन्य लोग भी रहते हैं। अन्य लोगों में और मुझमें जो अंतर का भाव है। यह साधन को परिपक्व नहीं होने देता। जब तक अंतर का भाव रहता है तब तक एकत्व भाव नहीं रहता और जब अंतर का भाव समाप्त हो जाता है तो एकत्व भाव आता है और यह अंतर का भाव शीघ्र समाप्त नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि समस्त प्राणियों में वही जीवात्मा है जो मेरे अपने में है। वह ही परमात्मा का अंश है जो सभी में एक रूप में है। यह भाव भी साधना की उस स्थिति में आकर प्रकट होता है। एकत्व भाव और दूसरे को अपने समान समझना यह भाव जब प्रकट हो जाता है तो ऐसा साधक श्री भगवान का ही भजन करता है और तब वह जो कुछ भी करता है वह श्री भगवान की ही तरह करता है। उसका जो व्यवहार है वह संसार में पृथक् प्रतीत होता है। क्योंकि हम सभी का व्यवहार संसार में रहता है। हम संसार में ही बरतते हैं। परन्तु जब हम संसार को श्री भगवान के स्वरूप में मान लेते हैं तो यह जो बरतने का भाव है इसमें परिवर्तन हो जाता है। इस

प्रकार एकत्व भाव से और सम्पूर्ण प्राणियों में आत्म स्वरूप से स्थिति होने पर श्री भगवान को भजने का जो भाव है वह श्री भगवान की स्थिति को स्पष्ट करता है।

16– योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स में युक्तमो मतः।। 6/47।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में अपनी विशिष्ट स्थिति का वर्णन करते हुए कहा कि जितने प्रकार के योगी हैं उन सभी प्रकार के योगियों में जो मेरे प्रति श्रद्धा को केन्द्र में रखकर मेरे में मन को लगाकर अंतरात्मा से मेरा ही भजन करता है वह योगी मुझको अत्यंत श्रेष्ठ मान्य है। वही युक्त है। ऐसा मेरा विचार है।

श्री भगवान ने अपनी स्थिति को इस श्लोक में स्पष्ट किया है और यह कहा है कि जितने प्रकार के योगी हैं वे जितने प्रकार का योग करते है उन सभी योगियों में जिस योगी की श्रद्धा मुझमें हो जाए और वह उस श्रद्धा से मेरे में मन को लगा ले और मेरा ही निरन्तर भजन करे तो ऐसा योगी मुझको युक्त लगता है। परमात्मा की प्राप्ति के उपाय अथवा साधन को योग कहा जाता है। अर्थात् जिस प्रक्रिया से परमात्मा का साक्षात्कार होता है, उसी को योग नाम से कहते है। उसमें जो चित्त संसार में रमता है वह परमात्मा में रमने लगता है। संसार में रमने वाले चित्त को परमात्मा में रमण कराना ही योग है। प्रत्येक योगी की आकांक्षा होती है कि उसका एक मात्र लक्ष्य होता है कि परमात्मा का साक्षात्कार हो और इसी तथ्य को केन्द्र में रखकर प्रत्येक योगी प्रयास करता है परन्तु श्री भगवान ने समस्त योगियों के लिए संदेश दिया है कि जितने प्रकार के योग योगी करता है उनमें एक सहज योग भी है कि मेरे में श्रद्धा रख ले और मेरा निरन्तर भजन करे तो यह साधन की सहजता भी है और इसमें श्री भगवान की स्थिति का भी वर्णन है क्योंकि चिंतन परमात्मा का ही किया जाता है। यद्यपि परमात्मा अचिंत्यस्वरूप है। फिर भी वह जब चिंतन का विषय बन जाता है तो वह प्रकट होता है। इसलिए इस प्रकरण में परमात्मा के साक्षात्कार की सहजता भी है और श्री भगवान की विशिष्ट स्थिति का वर्णन भी है।

17– मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।। 7/1।।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ञातव्यवशिष्यते।। 7/2।।

श्री भगवान ने सातवें अध्याय में अपनी विशिष्ट स्थिति को निरूपित करते हुए यह कहा कि हे अर्जुन! जो मेरे में आसक्त चित्त होकर और मेरा आश्रय लेकर योग में संलग्न हुआ जैसा मेरे को समग्रता और संदेह रहित जान सकेगा उस तथ्य को मैं तुम्हारे सामने वर्णित कर रहा हूं। मैं आपके लिए इस विज्ञानपूर्ण ज्ञान को समग्रता से वर्णित करूंगा जिसको तू प्रयोगात्मक रूप से समझकर तेरे लिये इस संसार में कुछ भी अन्य जानने जैसा अवशेष नहीं रह जाएगा।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपने आश्रय से और अपने में आसक्त मन वाले योगी के सम्बन्ध में अपने को समग्रता से तथा संदेहरहित होकर जानने की बात कही है। श्री भगवान को सम्पूर्णता से जाना जा पाना इतना सहज नहीं है और फिर संशय न रह जाए। ऐसा जाना जा पाना भी अत्यंत दुर्लभ है। मनुष्य में और प्राथमिक साधकों में यह संशय देखा जाता है कि वे संशय का शीघ्र निवारण नहीं कर पाते और उनमें श्री भगवान के प्रति संशय रहता है। यह संशय समाप्त हो इसके लिए श्री भगवान ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि मैं उस तथ्य को वर्णित कर दूंगा जिसको जानने के उपरान्त कुछ जानने को अवशेष नहीं रह जाएगा। और वह वर्णन विज्ञानयुक्त होगा ज्ञान से युक्त होगा और समग्रता से होगा। संसार के ज्ञान में समग्रता और सम्पूर्णता नहीं है। केवल तत्त्व ज्ञान में ही समग्रता है और उसे जानना ही इस मानव जीवन का लक्ष्य है। उसके जानने के पश्चात् कुछ अन्य जानना शेष नहीं रहता है। इस तथ्य का वर्णन अर्थात् समग्रता से तत्त्व ज्ञान को कहना श्री भगवान के वश का है मनुष्य के वश का नहीं है। जहां पर महर्षियों की वाणी शान्त हो जाती है वहां पर श्री भगवान की वाणी काम करती है। इसलिए इस तथ्य में श्री भगवान ने अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है।

18– भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। 7/4।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। 7/5।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। 7/6।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में अपनी विशिष्ट स्थिति का वर्णन किया है और यह कहा कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार यह आठ रूपों में बटी हुई मेरी प्रकृति है। यह आठ रूपों में विभक्त मेरी जड़ प्रकृति है। इसे अपरा प्रकृति भी कहा जाता है। हे अर्जुन! दूसरी को परा प्रकृति कहते हैं जो जीव स्वरूप में है और जिससे संसार का धारण किया जाता है। इन दोनों परा और अपरा प्रकृति से ही जगत का निर्माण होता है।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में अपनी सत्ता का स्पष्ट विवेचन किया है और इस समग्र संसार को अपने द्वारा ही उत्पन्न बताया है। उन्होंने यह कहा कि पंच महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और तीन सूक्ष्म तत्त्व मन, बुद्धि और अहंकार ये मेरी ही आठ प्रकार की प्रकृति है जो जड़ है। दूसरी जीव के स्वरूप में हमारी चेतन प्रकृति है जो मेरा ही अंश है। जड़ और चेतन प्रकृति को मिलाकर ही इस संसार की स्थिति होती है जब तक जड़ और चेतन, प्रकृति मिलते नहीं हैं तब तक संसार का निर्माण नहीं होता है। इसलिए सम्पूर्ण जगत के ये दोनों कारण हैं। श्री भगवान ने अपनी स्थिति को इन श्लोकों में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि मैं ही वह परम सत्ता हूं जिससे इस जगत का निर्माण होता है और प्रकृति हमारे अधीन कार्य करती है। इस तथ्य को पढ़ने और समझने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता बिल्कुल स्पष्ट है। वे ही इस जगत का निर्माण करते हैं इसको पालते पोसते हैं और अंत में इसे विनिष्ट कर देते हैं। यह कार्य प्रकृति के माध्यम से होता रहता है। इस तथ्य को समझने के उपरान्त कुछ भी संदेह अवशेष नहीं रहता। श्री भगवान ही परम सत्ता हैं, जो कुछ हमे प्रतीत होता है उसके कारण भी श्री भगवान ही हैं। इन श्लोकों में श्री भगवान की संदेहरहित स्थिति है जो हमे यह मानने को बाध्य करती है कि वे ही चिंतन का अभीष्ट है और इस कारण हमे उनका ही एक मात्र आश्रय लेकर उनका चिंतन करना चाहिए।

19– मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7/7।।

श्री भगवान ने पूर्व प्रकरण में अपनी स्थिति स्पष्ट की थी उसको इस प्रकरण में अधिक और स्पष्ट किया है और यह कहा है कि हे अर्जुन! मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस संसार में नहीं है। सम्पूर्ण संसार धागे में मणियों के समान मुझमें गुथा हुआ है।

इस श्लोक में श्री भगवान ने एक उदाहरण दिया है जैसे किसी माला में एक सूत्र अर्थात् धागा होता है और मणियां होती हैं। वे मणियां जब धागे में पिरो दी जाती है तब माला का अस्तित्त्व प्रतीत होता है। अगर वे मणियां एक धागे में न पिरोयी जाए तो माला का अस्तित्त्व नहीं हो सकता। उसी प्रकार इस संसार का अस्तित्त्व वैसा ही है। संसाररूपी जो माला है उसमें श्री भगवान ही सूत्र भी है और मणियां भी है। इसके कारण यह संसार रूपी माला प्रतीत हो रही है। अगर श्री भगवान का सूत्ररूप समाप्त हो जाए तो संसाररूपी माला का अस्तित्त्व समाप्त हो जाएगा और संसार की अनेक मणियां स्वतः ही छिन्न भिन्न हो जायेंगी और यह संसार समाप्त हो जाएगा। इसलिए संसाररूपी जो माला है उसमें श्री भगवान ही सूत्र रूप में हैं। उनका अस्तित्त्व सूत्र रूप में हैं इसलिए वे ही इस संसार का परम कारण है अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

20– रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। 7/8।।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।। 7/9।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। 7/10।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।

धर्माविरूद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। 7/11।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन मैं जल में रस हूं, चन्द्रमा और सूर्य में उनका प्रकाश हूं। समस्त वेदों में ओंकार हूं। आकाश में शब्द और पुरूषों में उनका पुरुषत्व हूं। पृथ्वी में पवित्र गंध और अग्नि में तेज हूं। समस्त प्राणियों में उनका जीवन हूं। तपस्वियों में उनका तप हूं। सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण भी मेरे को ही समझ। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि हूं। ऋषियों का तेज हूं। मैं बलवानों का आसक्ति और कामना से रहित पराक्रम हूं और भूतों में धर्म के अनुकूल काम हूं।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में अपनी स्थिति का वर्णन किया है। जल में जो रस है इसके कारण मनुष्य की प्यास का विनाश होता है। वह रस श्री भगवान है। चन्द्रमा और सूर्य का जो अस्तित्त्व है वह उसके प्रकाश के कारण ही है। इसलिए चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश भी श्री भगवान है। यह विशिष्ट बात है चन्द्रमा और सूर्य का जो अस्तित्त्व है वह प्रकाश के न रहते हुए नहीं है। इसलिए सारतत्त्व श्री भगवान है। समस्त वेदों में जो प्रणव है अर्थात् ओंकार है वह भी श्री भगवान है। आकाश में उसका गुण जो शब्द है वह भी श्री भगवान हैं। पुरुषों में जो पराक्रम है जो पुरुषत्त्व के रूप में प्रतीत होता है यदि पुरुषत्त्व न हो तो पुरूष का कोई अर्थ नहीं रहता। इसलिए पुरुषत्त्व के कारण ही पुरुष का अस्तित्त्व है और वह पुरुषत्त्व श्री भगवान हैं। पृथ्वी में जो अनेक वनस्पतियों को उपार्जित करने की शक्ति है वह उसके गुण गंध के कारण है। इसलिए पृथ्वी में जो पवित्र गंध है वह भी श्री भगवान की दी हुई है। अग्नि में जो तेज है उसका भी कारण श्री भगवान है। तेज के कारण ही अग्नि का अस्तित्त्व है। यदि तेज न तो अग्नि का अस्तित्त्व नहीं रहता। इसलिए श्री भगवान ने यह कहा कि अग्नि में जो तेज है वह मैं ही हूं। सम्पूर्ण प्राणियों में जो चैतन्यता की स्थिति है और जो कालयुक्त जीवन है वह भी श्री भगवान हैं। और तपस्वियों में जो तप की स्थिति है वह भी श्री भगवान हैं। तपस्वियों में जो तप करने की सामर्थ्य है वह श्री भगवान के कारण ही आती है अन्यथा नहीं आती है। सम्पूर्ण प्राणियों का जो सनातन बीज है अर्थात् उनकी उत्पत्ति का जो कारण है वह भी श्री भगवान है। सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति भी उनके कारण होती हैं। इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण अपने को कहा है। संसार में अनेक बुद्धिमान पुरूष रहते है उनमें जो बुद्धि है वह भी श्री भगवान के द्वारा ही प्रदान की गई है। जो आश्चर्यजनक, अविष्कार संसार में हो रहे

हैं उनमें बुद्धि ही कारण रहती है। इसलिए श्री भगवान ने कहा मैं बुद्धिमानों की बुद्धि हूं और तेजस्वियों का तेज हूं अर्थात् जो तेज किसी व्यक्ति में प्रतीत होता है अथवा कोई पराक्रम विशेष प्रकट होता है वह भी श्री भगवान के स्वरूप में ही है। इसलिए जो भी सत्ता है वह भी श्री भगवान के स्वरूप में है। किसी व्यक्ति में जो बल है उसमें आसक्ति और कामना नहीं है केवल सामर्थ्य वह श्री भगवान का स्वरूप है। समस्त प्राणियों में धर्म के अनुकूल अर्थात् संसार की उत्पत्ति का जो कारण है वह काम श्री भगवान के स्वरूप में है। प्रजा उत्पत्ति का जो कारण वह भी श्री भगवान की ओर से ही आता है। इन उपरोक्त श्लोकों से श्री भगवान की स्थिति स्पष्ट होती है।

21– ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।। 7/12।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।। 7/13।।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने गुणों का वर्णन करते हुए कहा कि जो सत्त्व गुण से, रजोगुण, तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं उन सभी भावों को मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझ परन्तु उनमें मैं नहीं हूं और वे गुण मेरे में नहीं हैं। यही यथार्थ तथ्य है। सत्त्व, रज, तम, इन तीन प्रकार के गुणों से उत्पन्न भावों से या समग्र जगत मोहित हो रहा है। इस कारण इन त्रिगुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जान पाता अर्थात् गुणों के कार्यरूप में ही उलझा रहता है।

श्री भगवान ने इस उपरोक्त प्रकरण में अपनी विशिष्ट सत्ता का प्रकटीकरण किया है। वस्तुतः सत्त्व, रज और तम गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। परन्तु चूंकि प्रकृति श्री भगवान के ही अधीन कार्य करती है इसलिए श्री भगवान ने इस स्थल पर ऐसा कहा है कि सत्व रज और तम से उत्पन्न होने वाले जो भाव हैं वह मेरे से ही उत्पन्न होते हैं परन्तु गुणों में श्री भगवान की सत्ता नहीं है और गुण श्री भगवान को प्रभावित भी नहीं करते। वस्तुतः यह समग्र जगत अर्थात् इस संसार में जितने भी प्राणी मात्र हैं वे तीनों गुणों के प्रभाव से कार्य करते रहते हैं। प्रत्येक

व्यक्ति गुणों के प्रभाव से ही कार्य करता है परन्तु श्री भगवान त्रिगुणातीत होने के कारण गुणों के प्रभाव में नहीं रहते जो व्यक्ति गुणों के प्रभाव को भली प्रकार जान लेता है वह उससे परे जाने का प्रयास करता है और अविनाशी परमात्मा को तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक हम गुणों के प्रभाव में रहते हैं। वस्तुतः यह समग्र जगत गुणों के प्रभाव से ही प्रभावित है। इसलिए श्री भगवान के त्रिगुणातीत शरीर को नहीं जान पाता। सत्त्व गुण से मनुष्य में गुण उत्पन्न होते हैं और रजोगुण से अवगुण उत्पन्न होते है और तमो गुण दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। गुण अवगुण और दुर्गुण इनमें ही मनुष्य उलझा रहता है। गुण भी बंधन का हेतु हैं और अवगुण तथा दुर्गुण निश्चित रूप से बंधन के हेतु कहे जाते है। इसलिए श्री भगवान ने अपनी सत्ता को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि गुण वस्तुतः मेरे से उत्पन्न होते हैं। अथवा यह कहे कि गुणों से उत्पन्न होने वाले भाव श्री भगवान से ही उत्पन्न होते हैं परन्तु श्री भगवान उनमें नहीं है न वे श्री भगवान में है। श्री भगवान ने अव्यय पद का जो प्रयोग किया है वह उनकी विशिष्ट सत्ता को प्रकट करता है।

22– दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। 7/14।।

श्री भगवान ने इस श्लोक में अपनी त्रिगुणीमयी माया के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए कहा कि यह त्रिगुणीमयी माया अत्यंत दुष्तर अर्थात् अलौकिक है और अत्यंत कठिन भी है परन्तु जो कोई साधक मेरा ही लगातार भजन करता है वह इस त्रिगुणीमयी माया को पार कर जाता है।

श्री भगवान ने उपर्युक्त प्रकरण में त्रिगुणीमयी माया के सम्बन्ध में तीन तथ्य कहे हैं। एक त्रिगुणीमयी माया को दैवी कहा है। दूसरे गुणमयी कहा है और तीसरा दुष्तर कहा है। दैवी का अर्थ अलौकिक होता है। अलौकिक का अर्थ जो लौकिक नहीं है अर्थात् इस संसार की नहीं है उसे अलौकिक कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि श्री भगवान की जो माया है वह इस संसार के लोगों को भ्रमित रखती है। हम सभी माया के अद्भुत स्वरूप में उलझे रहते हैं। इस संसार में हमे जो कुछ वस्तु और स्थिति दिखाई पड़ती है वह सबकी सब माया का ही कार्यरूप है और इस माया के कार्यरूप में समग्र संसार उलझा हुआ है। त्रिगुणीमयी माया के सम्बन्ध में गुणमयी पद का प्रयोग हुआ है अर्थात् माया के तीन स्वरूप

हैं। एक सात्त्विक माया दूसरी राजसी माया तीसरी तामसी माया। जो व्यक्ति सत्त्व गुण प्रधान होता है उसे सात्त्विक माया अपने प्रभाव में लेती है और उसे जीवन पर्यन्त अपने प्रभाव में रखकर उलझाये रखती है जो व्यक्ति रजोगुण प्रधान होता है उसे राजसी माया अपने प्रभाव में रखती है और उसे जीवन पर्यन्त राजसी कार्यो में उलझाये रखती है। जो व्यक्ति तमोगुण प्रधान होता है उसे तामसी माया अपने प्रभाव में रखती है और उसे उलझाये रखती है। इसलिए जिस मनुष्य में जिस गुण की प्रधानता होती है वैसे ही माया का स्वरूप परिवर्तित होकर उससे अनेक प्रकार के कार्य कराता है। सत्त्व गुण प्रधान व्यक्ति लोगों के हित और भलाई के लिए कार्य करते हैं परन्तु उससे वे ऐश्वर्य प्रतिष्ठा आदि चाहते हैं। इस ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा में ही वह उलझे रहते हैं। राजसी माया मनुष्य को धन सम्पत्ति पद आदि प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है और तामसी माया मनुष्य को अनेक प्रकार के दुष्कर्मो में लगाए रखती है। माया का तीसरा स्वरूप दुष्तर है अर्थात कठिन है। सामान्य व्यक्ति तो क्या बड़े बड़े साधक भी इस माया के स्वरूप और प्रभाव को शीघ्रता से जान नहीं पाते। माया के स्वरूप और प्रभाव को कौन व्यक्ति जान पाता है ? इसके लिए श्री भगवान ने इस प्रकरण में एक विशिष्ट बात कही है। उन्होंने कहा जो मेरा ही निरन्तर भजन करते है वे इस माया के प्रभाव को और उसके स्वरूप को जान जाते हैं और माया के प्रभाव व स्वरूप को जानकर वे इसके पार चले जाते हैं। श्री भगवान के भजन से ही मनुष्य को परम पुरूषार्थ अर्थात् मुक्ति की प्राप्त होती है। ऐसा श्री भगवान का कथन है और इस कथन के कारण श्री भगवान की सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है।

23– न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।। 7/15।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में दूषित कर्म करने वाले मूर्ख मनुष्यों के बारे में स्पष्ट करते हुए कहा कि त्रिगुणीमयी माया के द्वारा जिन मनुष्यों के ज्ञान का हरण हो चुका है। वे आसुरी भाव के आश्रित रहकर मनुष्यों में अद्यम और नीच कर्म करने वाले मूर्ख लोग मेरा भजन नहीं करते।

उपर्युक्त प्रकरण में राक्षसी स्वभाव के मनुष्यों का स्पष्ट वर्णन किया गया है और श्री भगवान ने यह कहा कि मेरी त्रिगुणीमयी माया ने जिन मनुष्यों के वास्तविक ज्ञान का

अपहरण कर लिया है वे समाज में दूषित कर्म करने वाले होते हैं। वस्तुतः जब मनुष्य को यह ज्ञान नहीं रहता कि क्या करना उचित है? और क्या करना अनुचित है? अर्थात् मनुष्य में यह ज्ञान जब समाप्त हो जाता है तो मनुष्य निश्चित रूप से न किये जाने वाले कर्मो का आश्रय लेकर दूषित कर्मो का सम्पादन करता है। परन्तु यह तथ्य विचारणीय है कि मनुष्य ऐसा क्यों करता है ? श्री भगवान ने यह स्पष्ट किया कि ऐसे दूषित कर्म करने वाले मनुष्यों का ज्ञान माया के द्वारा हर लिया गया है। वस्तुतः तामसी माया मनुष्य के वास्तविक ज्ञान का हरण कर लेती है। चूंकि माया श्री भगवान के अधीन है और तामसी माया जिन मनुष्यों के ज्ञान का हरण करती है उनसे अनेक प्रकार के दूषित कर्म करवाती है जिसका परिणाम पतन होता है। इस तथ्य से श्री भगवान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

24– चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। 7/16।।

तेषा ज्ञानी नित्युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।। 7/17।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

अस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। 7/18।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में अपने भक्तों का वर्णन करते हुए कहा कि हे अर्जुन! शुभ कर्म करने वाले मेरे चार प्रकार के भक्त हं। जिन्हें अर्थार्थी, आर्त,, जिज्ञासु और ज्ञानी कहा जाता है। इन चार प्रकार के भक्तों में नित्य मेरीं एक भक्ति में लगे हुआ भक्त विशिष्ट है। वह ज्ञानी भक्त मेरे को अत्यंत प्रिय है और मैं ज्ञानी को प्रिय हूं। भक्त तो सभी उदार हैं परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। ऐसा मेरा मानना है। क्योंकि वह युक्त आत्मा अत्यंत उत्तम गति के स्वरूप में मेरे में ही है। मेरे में भली प्रकार स्थित है।

इस उपर्युक्त प्रकरण में श्री भगवान ने चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया है। एक वह भक्त है जो संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा रखता है। दूसरे प्रकार का वह भक्त है जो संकट के समय श्री भगवान को पुकारता है और तीसरे प्रकार का वह

भक्त है जो श्री भगवान के स्वरूप को जानने की आकांक्षा करता है और चौथे प्रकार का वह भक्त है जो श्री भगवान को समग्रता से जान जाता है। इन चारों प्रकार के भक्तों में श्री भगवान ने ज्ञानी भक्त को विशिष्ट कहा है क्योंकि ज्ञानी न तो सांसारिक वस्तुओं की आकांक्षा करता है और न ही संकट के समय श्री भगवान को पुकारता है और न ही उनके स्वरूप को जानने की इच्छा करता है। क्योंकि वह श्री भगवान के स्वरूप को जान चुका है। जब तक मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त करने की जिज्ञासा करता है तो यह एक स्थिति है और वस्तु प्राप्त होने के पश्चात् जिज्ञासा का स्वतः समापन हो जाता है। इसलिए ज्ञानी श्री भगवान को जानकर उनके स्वरूप में ही खोया रहता है। उसे संसार से कोई अर्थ नहीं होता। उसका एक मात्र चिंतन श्री भगवान होते हैं और श्री भगवान ऐसे भक्तों को अपना अत्यंत प्रिय कहते हैं। श्री भगवान ने इस प्रकरण में भी अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है। और उन महानुभावों का वर्णन किया है जो उनके भक्त हैं।

25– बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। 7/19।।

श्री भगवान ने इस श्लोक में एक विशिष्ट साधक का वर्णन करते हुए कहा कि अनेक जन्मों के अंतिम जन्म में ज्ञानवान साधक सर्वत्र वासुदेव ही है ऐसा मानकर मेरा स्मरण और भजन करता है। ऐसा महात्मा पुरुष अत्यंत दुर्लभ है।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने एक विशिष्ट भक्त का वर्णन किया है। वस्तुतः मनुष्य को तत्त्व ज्ञान शीघ्रता से नहीं होता है। जब तक दृष्टि में संसार रहता है तब तक हमारा समग्र भाव संसार में अटका रहता है। हम संसार को देखते हैं। संसार से कुछ पाने की इच्छा करते है और साधकों की काफी चेष्टा संसार के प्रति रहती है। नित्य स्थिति शीघ्रता से नही आती। यद्यपि नित्य स्थिति आने में संसार का चिंतन ही बाधक हैं। इसका परिवर्तन करके सर्वत्र वासुदेव ही है ऐसा भाव प्रकट करना ही तत्त्व ज्ञान का एक आधार है। जब तक ऐसा ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक मनुष्य को श्री भगवान की अनुभूति भी नहीं होती। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति में ही उलझा रहता है। **सर्वत्र वासुदेव ही है। यह भाव बड़ी** कठिनता से उत्पन्न होता है। मनुष्य में यह भाव जब प्रकट हो जाता है तो उसकी दृष्टि जहां भी जाती है उसे श्री भगवान ही प्रतीत होते हैं। अन्य कुछ प्रतीत नही होता। जैसे

समुद्र के मध्य जाने पर जहां तक दृष्टि जाती है वहां तक समुद्र ही समुद्र प्रतीत होता है वस्तुतः समुद्र के बाहर जहां समुद्र नहीं है वहां पृथ्वी है। परन्तु जब तक मनुष्य समुद्र में रहता है तब तक उसे जल की ही प्रतीति होती है। वैसे जब तक मनुष्य संसार में रहता है तब तक उसे संसार प्रतीत होता है परन्तु संसार में रहकर प्रत्येक वस्तु और स्थिति में श्री भगवान प्रकट हो जाए तो ऐसी स्थिति दुर्लभ है और ऐसा साधक भी दुर्लभ है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ही श्री भगवान ने इस श्लोक में अपनी सत्ता का प्रकटीकरण किया है।

26– कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। 7/20।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में देवताओं की उपासना के सम्बन्ध में विशेष तथ्य का वर्णन करते हुए कहा है कि संसार के भोगों की अनेक कामनाओं द्वारा जिन पुरूषों का ज्ञान नष्ट हो चुका है वे अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के नियमों का अनुष्ठान करके अनेक देवताओं का यजन पूजन करते हैं।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने यह स्पष्ट किया है कि अनेक मनुष्य अनेक प्रकार की कामनाऐं अपनी परिस्थितिवश करता है और अनेक प्रकार के सांसारिक भोगों की आकांक्षा भी करता है। जिन जिन भोगों की कामना मनुष्य करता है उनकी प्राप्ति की चेष्टा होना अनिवार्य है। इसके लिए वह अनेक प्रकार के देवताओं का यजन पूजन करता है। अनेक प्रकार के देव पूजन शास्त्रों का अध्ययन करके उनका पालन करता है। परन्तु वस्तुतः देवताओं के यजन पूजन से वे सांसारिक भोग हमें प्राप्त होते हैं वे हमारे निश्चित पतन का कारण होते हैं। इसी की ओर दृष्टि रखकर श्री भगवान ने देवताओं के पूजन करने वालों के लिए स्पष्ट कहा है कि उनके ज्ञान का हरण हो चुका है। जिन लोगों के ज्ञान का हरण नहीं होता वे श्री भगवान की पूजा उपासना करते हैं और भोगों की आकांक्षा छोड़ देते हैं। इस तथ्य से भी श्री भगवान की विशेष स्थिति का प्रकटीकरण होता है।

27– अन्तवत्तु फलं तेषा तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। 7/23।।

श्री भगवान ने देवताओं की उपासना से प्राप्त फल को विनिष्ट होने वाला कहा है और यह कहा कि देवताओं की उपासना करने वाले मंद बुद्धि लोगों का उपासना से प्राप्त फल विनाशी है तथा देवताओं की उपासना करने वाले अंत में मृत्यु के उपरान्त देवताओं को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु मेरा भक्त मुझको ही प्राप्त होता है।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है और यह कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की अंततः मृत्यु होती है परन्तु जो मनुष्य देवताओं की उपासना करते हैं वे मंदबुद्धि वाले हैं। क्योंकि देवताओं की उपासना से जो परिणाम मिलता है वह समय के साथ नष्ट होने वाला होता है और मेरी उपासना से एक ही परिणाम मिलता है जिसे मुक्ति कहा जाता है। इस संसार में रहते हुए भी वह पुरुष मुक्त रहता है और संसार से विदा होने के पश्चात् वह मेरे परमधाम में आ जाता है। इसलिए देवताओं की उपासना करने वाला अल्पबुद्धि है और मेरी उपासना करने वाला विशिष्ट बुद्धि है। इस तथ्य से भी श्री भगवान ने अपनी विशेष सत्ता का प्रकटीकरण किया है।

28– नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। 7/25।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में भी अपनी विशेष स्थिति प्रकट की है और यह कहा है कि मैं अपनी योग माया से अच्छी प्रकार आवृत्त हुआ सभी के समक्ष प्रकट नहीं होता हूं। यह मूर्ख लोग मुझ अजन्मा और अविनाशी सत्ता को नहीं जानते। उनके विचार से मैं जन्म लेने वाला प्रतीत होता हूं।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने एक बहुत विशिष्ट बात कही है कि श्री भगवान तो सर्वत्र विराजमान है ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां पर श्री भगवान की उपस्थिति न हो परन्तु उपस्थित होते हुए भी वे हमें प्रतीत नहीं होते। यह विशेष बात है। श्री भगवान हमे प्रतीत क्यों नहीं होते ? इस बात को स्पष्ट करते हुए श्री भगवान ने यह कहा कि मैं अपनी योगमाया से ढका हुआ हूं छिपा हुआ हूं। इसलिए जब तक माया का अतिक्रमण नहीं होता तब तक मुझे कोई देख नहीं पाता। वस्तुतः जीव और परमात्मा के मध्य माया का पर्दा है और यह पर्दा इतना सूक्ष्म है कि इसको हमारी प्राकृत आंखे नहीं देख पाती। जब तक यह

पर्दा हटता नहीं तब तक श्री भगवान का दर्शन नहीं होता। यही एक रहस्य है जिसको सामान्य व्यक्ति नहीं जान पाता। श्री भगवान जन्मरहित हैं अविनाशी हैं इस तथ्य को बहुत से लोग नहीं मानते और वे योग माया से आवृत्त है। इस तथ्य को भी बहुत लोग नहीं जानते। माया से आवृत्त होने के कारण वे प्रतीत नही होते। उपस्थित तो है परन्तु प्रकट नहीं है। यह विशेष बात है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने यह श्लोक कहा है और अपनी विशिष्ट सत्ता का प्रकटीकरण किया है।

29– वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन। 7/26।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में भी अपनी विशेष सत्ता का स्पष्टीकरण किया है और यह कहा है कि हे अर्जुन भूतकाल में जितने भी प्राणी हुए हैं वर्तमान काल में जितने भी प्राणी है और भविष्य में जितने भी प्राणी होने वाले है उन सबको मैं भली प्रकार जानता हूं और अन्य कोई न तो भूतकाल के प्राणियों को जानता है और न तो वर्तमान के सभी प्राणियों को जानता है और न ही भविष्य में होने वाले प्राणियों को जानता है।

श्री भगवान ने इस श्लोक में त्रिकालज्ञता जैसी स्थिति का वर्णन किया है। भूत भविष्य और वर्तमान तीन काल होते हैं। जो समय व्यतीत हो चुका है उसे भूतकाल कहते हैं, जो समय चल रहा है उसे वर्तमान कहा जाता है और जो समय आगे आने वाला है उसे भविष्यकाल कहते हैं। पहले भी यह संसार था जिसमें प्राणी थे, वर्तमान में भी यह संसार है इसमें भी असंख्य प्राणी हैं और भविष्य में भी यह संसार प्राणियों से भरा पुरा रहने वाला है परन्तु हमें न तो अपने भूतकाल का ज्ञान रहता है और न भविष्यकाल के सम्बन्ध में ज्ञान रहता है हम थोड़ा बहुत अपने वर्तमान के सम्बन्ध में जानते है परन्तु अन्य प्राणियों के विषय में हमें ज्ञान नहीं रहता है। तो श्री भगवान ऐसी सत्ता हैं जिन्हें त्रिकाल में होने वाले वाले प्राणियों का ज्ञान है। इस श्लोक में यह विशेष तथ्य है। तीनों कालों का ज्ञान उसी एक मात्र सत्ता को हो सकता है जो सत्ता इस संसार को प्रकट करती है जीवित रखती है और समाप्त कर सकती है। इस श्लोक में भी श्री भगवान ने अपनी सत्ता का विशेष प्रकटीकरण किया है।

30– येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः।। 7/28।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में ऐसे साधकों का वर्णन किया है जो शुभ कर्म करने वाले पापरहित तथा राग और द्वेष से मुक्त पुरुष हैं और यह कहा है कि जो पुण्य कर्म करते हैं और जिन महानुभावों का पाप नष्ट हो गया है तथा जो राग द्वेष आदि द्वंद्व से मुक्त हो चुके है ऐसे दृढ़वती मनुष्य सभी प्रकार से मेरा ही यजन करते हैं।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपनी सत्ता का विशेष निरूपण किया है और यह कहा है कि जब तक मनुष्य पुण्य कर्म नहीं करता तब तक उसका पाप भी नष्ट नहीं होता। पुण्य कर्मो के प्रभाव से संचित पाप कर्मो का विनाश हो जाता है। यह निश्चित नियम है। पुण्य कर्मो के न करने से संचित पाप बढ़ते रहते हैं और उसका परिणाम हमें दुःख के रूप में प्राप्त होता है यह निश्चित नियम है। जब मनुष्य श्रेष्ठ कर्मो का आचरण करता है तो ही उसके पाप नष्ट होते हैं और पाप नष्ट होने के उपरान्त राग और द्वेष से उसे मुक्ति मिलती है। जब तक संसार की चाहना रहती है तब तक राग रहता है। या इसे इस प्रकार कहा जाए कि संसार की प्राप्ति को ही राग कहा जाता है और संसार में हम जिसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हं वह वस्तु किसी कारण हमें जब प्राप्त नहीं होती है तो बाधक व्यक्तियों के प्रति प्रतिकूल भाव उत्पन्न होता है। इसे ही द्वेष कहा जाता है और जब तक राग द्वेष रहता है तब तक पाप पुण्य भी रहते हैं। इसलिए जिनका राग द्वेष नष्ट हो गया है अर्थात् संसार की आसक्ति समाप्त हो गयी है तो वे स्वतः ही श्री भगवान की ओर उन्मुख हो जाते है वे निश्चय कर लेते हैं कि संसार तो विनाशी है अर्थात् नष्ट होने वाला है और उनका यह निश्चय उन्हें श्री भगवान की ओर ले जाता है। तब वे संसार का भजन छोड़कर परमात्मा का भजन करने लगते हैं। श्री भगवान ने इसमें सैद्धान्तिक विशिष्ट रूप से जो तथ्य कहा है वह ध्रुव सत्य है और इससे श्री भगवान की सत्ता का भी निरूपण होता है।

31– अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मदभावं याति नास्त्यत्र संशयः। 8/5।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। 8/6।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में विशिष्ट बात कही है और यह कहा है कि जो पुरूष मृत्यु के समय मेरा स्मरण करता हुआ इस देह का परित्याग कर देता है वह मेरे भाव को ही निश्चित प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है। क्योंकि हे अर्जुन! मृत्यु के समय मनुष्य जिस जिस भाव को याद करते हुए इस संसार से विदा लेता है उसी को वह निश्चित प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जो भाव जीवनपर्यन्त साथ रहा है। वही भाव मृत्यु के समय भी निश्चित उत्पन्न होता है।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने मृत्यु के समय स्वयं के स्मरण की बात कही है। वस्तुतः श्री भगवान का स्मरण जब मनुष्य करता है तो उसमें निरन्तरता आ जाती है तो मृत्युकाल में भी उन्हीं का स्मरण होता है और जब तक निरन्तरता नहीं आती है तब तक संसार का चिंतन होता है। यह नियम है कि या तो संसार का चिंतन होगा या परमात्मा का चिंतन होगा। चिंतन एक ही सत्ता का होगा यह विनाशी सत्ता हमारे चिंतन का विषय होगी या अविनाशी सत्ता हमारे चिंतन का विषय होगी। जब हम विनाशशील संसार के बारे में विचार करते हैं तो अविनाशी श्री भगवान का चिंतन छूट जाता है और जब अविनाशी श्री भगवान का चिंतन करते हैं तो संसार का चिंतन छूट जाता है। यह नियम है। इस तथ्य का स्मरण हम जीवन भर करते हैं उसी का स्मरण हमे अंतकाल में भी होता है। यह भी नियम है। ऐसा नहीं है कि हम जीवनपर्यन्त संसार के बारे में विचार करें और अंत समय हमें श्री भगवान का स्मरण हो जाए। हम दिन में भी जिस सम्बंध में विचार करते हैं उसी के बारे में रात्रि में विचार आता है। अर्थात् स्वप्नावस्था में हमारे विचार प्रकट होते हैं। इस तथ्य से श्री भगवान ने अपनी सत्ता को परिभाषित किया है।

32– तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामानुस्मर युध्य च।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। 8/7।।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपने स्मरण की विशिष्टता का वर्णन करते हुए कहा कि हे अर्जुन सभी काल में मेरे को ही याद करें। अपने कर्तव्य कर्म का पालन भी करें।

क्योंकि मुझमें अर्पित किए हुए मन बुद्धि से कार्य करते हुए संशयरहित तुम मुझको ही प्राप्त होगे।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में विशेष तथ्य यह कहा है कि संसार के कार्य करने की हमारी बाध्यता है अर्थात् हम संसार में कार्य करते हैं परन्तु संसार में कार्य करते हुए हमें संसार का चिंतन भी रहता है। संसार का कार्य करते हुए श्री भगवान का चिंतन हो ऐसा कम होता है। संसार का कार्य करते हुए श्री भगवान का स्मरण हो इसी का नाम साधना है। कार्य तो संसार का हो चिंतन श्री भगवान का हो। अर्थात् हम अपने कर्तव्य कर्मो का निर्वहन करें परन्तु कर्तव्य कर्मो के निर्वहन के साथ परमात्मा की स्मृति रहे। यह विशेष बात है और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक साधना नहीं होती। कर्तव्य कर्म करने की हमारी बाध्यता है परन्तु मन और बुद्धि दोनों श्री भगवान में अर्पित हो जाए तो हम साधना की पराकाष्ठा तक पहुंच सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है और जब ऐसी स्थिति आ जाती है तो अंततः श्री भगवान की प्राप्ति हो जाती है। संसार में तो निकटता रहती ही है संसार से गमन करने पर भी श्री भगवान का ही सानिध्य प्राप्त होता है। ऐसा श्री भगवान का आश्वासन है। इस आश्वासन से ही श्री भगवान ने अपनी सत्ता का विशेष निरूपण किया है।

33– अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः। 8/14।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः।। 8/15।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में अपनी सुलभता का वर्णन करते हुए पुनर्जन्म न होने के तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! जो साधक मेरे में अपने चित्त को अनन्य भाव से लगाकर नित्य और सतत मेरा ध्यान करता है। मैं ऐसे नित्ययुक्त भक्त के लिए सुलभ हूं अर्थात् उसे प्राप्त हूं। परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को पाकर दुःखों के घर अशाश्वत पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् वे मुक्त हो जाते हैं।

श्री भगवान ने इन श्लोकों में अपनी विशिष्ट सत्ता का निरूपण किया है और यह कहा है कि जिस प्रकार संसार का नित्य ध्यान अनायास ही रहता है वैसा ध्यान मेरा हो जाए अर्थात् चित्त मेरी ओर स्वतः ही जाने लगे और वैसा ही स्मरण रहे जैसे सामान्य व्यक्ति संसार में करता है। संसार के स्थान पर श्री भगवान उपस्थित हो जाए तो इसी को नित्यता कहते हैं। इसमें निरन्तरता होनी चाहिए नित्यता होनी चाहिए और जब यह नित्यता निरन्तरता आ जाती है तो श्री भगवान ऐसे साधक के लिए सहज भाव से ही उपलब्ध हो जाते है। इसी को सिद्धि कहा जाता है। साधक और सिद्ध में यही अंतर है। साधक में संसार भी रहता है और श्री भगवान भी रहते हैं परन्तु सिद्ध में संसार नहीं रहता। केवल श्री भगवान रह जाते है और ऐसा साधक निश्चित रूप से पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। इस तथ्य के स्पष्टीकरण में श्री भगवान ने अपनी सत्ता का निरूपण किया है।

34– सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः। 8/17।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में अपनी विशेष सत्ता की प्रस्तुति करते हुए कहा हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक समस्त लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं। हे कुन्ती पुत्र मुझको जो मनुष्य प्राप्त कर लेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपनी विशेष सत्ता का निरूपण किया है और यह कहा है कि ब्रह्मलोक तक जितने भी लोक हैं उनसे मनुष्य का आवागमन होता है। यदि कोई साधक ब्रह्मलोक तक पहुंच भी जाता है तो उसकी वापसी पुनः इस पृथ्वी लोक पर होती है। इसका अभिप्राय यह है कि श्री भगवान का परम धाम ब्रह्मलोक से भी ऊपर है और ब्रह्मलोक अंतिम लोक है जो समस्त लोकों के ऊपर है। तपस्या से अथवा साधना से यदि कोई साधक ब्रह्मलोक तक पहुंच भी जाता है तो भी उसकी वापसी पुण्यों के क्षीण होने पर हो जाती है। परन्तु जो श्री भगवान के लोक में पहुंच जाता है तो उसकी वापसी नहीं होती है। क्योंकि पृथ्वीलोक पर आने का अभिप्राय पुनर्जन्म ही होता है और पृथ्वीलोक पर वापसी न हो यह व्यवस्था मात्र श्री भगवान के ही लोक में है। इस तथ्य से श्री भगवान की विशेष सत्ता का प्रकटीकरण होता है।

35– अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। 8/21।।

श्री भगवान ने अपने लोक परमधाम का वर्णन करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! अव्यक्त अक्षर ऐसा निर्देश किया गया है और उसी अव्यक्त अक्षर को परम गति कहते है। जिस अव्यक्त अक्षर को पाने के उपरान्त इस पृथ्वी लोक पर वापसी नहीं होती उसे ही मेरा परम धाम कहा जाता हैं।

इसमें श्री भगवान ने अपनी विशेष सत्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि जो व्यक्त नहीं है जो अक्षर है अर्थात् जिसका विनाश नहीं होता है उसे परमगति कहा जाता है। अन्य जितनी भी गतियां हैं वे व्यक्त है और विनाशी स्वभाव वाली है परन्तु जो अव्यक्त और अविनाशी स्वभाव की गति है उससे पुनर्जन्म नहीं होता है और यह अव्यक्त अक्षर वाली स्थिति श्री भगवान को प्राप्त होकर उपलब्ध होती है। इसे वस्तुतः परम धाम कहा जाता है या इसे निराकर ब्रह्म के उपासक अव्यक्त अक्षर कहते है। इस स्थिति को प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता और वह स्थिति श्री भगवान ही हैं। इस तथ्य ने अर्थात् इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपने को व्यक्त नहीं हैं और विनाशी नहीं है, अव्यक्त हं और विनाश रहित है अर्थात् अक्षर है इस तथ्य से विभूषित किया है। यह उनकी विशेष स्थिति है जो उनकी सत्ता का विशेष निरूपण करती है।

36– इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।

ज्ञान विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। 9/1।।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।। 9/2।।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अर्जुन को परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान के वर्णन करने का तथ्य कहा है और इस गोपनीय ज्ञान को समस्त गोपनीयों का राजा तथा प्रकृति में परिणाम देने वाला कहा है तथा यह कहा कि हे अर्जुन ! तू मेरे प्रति दोष दृष्टि से रहित है। इस कारण इस परम गुह्यज्ञान को विज्ञान सहित वर्णित करना चाहता हूं जिसे

जानकर तू इस अशुभ संसार से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। यह विज्ञान सहित ज्ञान सभी विज्ञानों का राजा परम गोपनीयों का राजा अत्यंत पवित्र अत्यंत उत्तम परिणाम देने वाला धर्म संगत और प्रयोगात्मक रूप से बहुत ही सुगम है तथा अविनाशी है।

श्री भगवान ने अर्जुन से परम गोपनीय तथा विज्ञान सहित ज्ञान को वर्णित करने के लिए कहा और यह विज्ञान सहित ज्ञान इस प्रकार का है जिससे मनुष्य दुःख रूप संसार से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यह ज्ञान समस्त लौकिक ज्ञानों में श्रेष्ठ है और परम गोपनीय है अत्यंत पवित्र और श्रेष्ठ है तथा इसका परिणाम प्रत्यक्ष है और प्रक्रिया में यह बहुत सरल है तथा अविनाशी है। इस ज्ञान का वर्णन श्री भगवान ने आगे के श्लोकों में किया है तथा विशिष्ट विशिष्ट प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है जिससे परमात्मा का साक्षात्कार होता है। यह ज्ञान प्रदान करने वाली सत्ता श्री भगवान है। परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान और समस्त ज्ञानों में श्रेष्ठ तथा पवित्र और उत्तम ज्ञान का वर्णन श्री भगवान ही कर सकते है। इसलिए इस तथ्य से उनकी सत्ता का निरूपण होता है।

37– मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। 9/4।।

न च मत्तस्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। 9/5।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।। 9/6।।

उपर्युक्त श्लोकों में श्री भगवान ने अपनी ईश्वरीय सत्ता का निरूपण किया है तथा विशिष्ट भाव प्रकट करते हुए कहा है मेरे में अव्यक्त मूर्ति की तरह से यह समस्त संसार व्याप्त है और सभी प्राणी मेरे में स्थित हैं परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूं। समस्त प्राणी मुझमें स्थित नहीं है। ऐसा मेरे ऐश्वर्ययुक्त योग शक्ति को देख समस्त प्राणियों को धारण करने वाला और उनकी जीविका का पोषण करने वाला, समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाला मेरा आत्मा वस्तुतः समस्त प्राणियों में स्थित नहीं है। जैसे आकाश से उद्भव होने वाला

सर्वत्र उपस्थित महान वायु नित्य आकाश में ही रहता है। वैसे ही सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं ऐसा समझ।

उपरोक्त प्रकरण में श्री भगवान ने अत्यंत विशिष्ट भाव भरे हैं। जैसे जल में बर्फ रहता है परन्तु वह बर्फ प्रतीत नहीं होता है। एक तापमान के आने पर वह बर्फ प्रकट हो जाता है वैसे ही श्री भगवान अव्यक्त मूर्ति की तरह से अर्थात् आकाररहित सत्ता की तरह से इस संसार में उपस्थित हैं। परन्तु वे प्रतीत नहीं होते यह विशिष्ट भाव है। रहकर भी प्रतीत न होना यह विशेष बात है। जितने भी प्राणी है उनमें वस्तुतः परमात्मा है भी और नहीं भी है यह दोनों प्रतिकूल स्थितियां बड़ी विलक्षण हैं। परमात्मा की उपस्थिति भी है और नहीं भी है यह भाव प्रतिकूल जैसा प्रतीत होता है। यह इसलिए है क्योंकि समस्त प्राणियों के हृदय में वह विराजमान हैं और इसलिए नहीं है क्योंकि वह प्रतीति नहीं होते। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण भी है परन्तु कारण होते हुए भी उसकी प्रत्यक्ष प्रतीती नहीं होती। होकर भी न प्रतीत होना ही अव्यक्त कहा जाता है। वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी है अर्थात् वे है भी और नहीं भी। जैसे आकाश में वायु है और वह आकाश में रहती है सदैव रहती है। परन्तु वह प्रतीत नहीं होती। उसका आभास तो होता हैं वायु की सत्ता प्रकट रहती है और वह अप्रकट भी रहती है। वायु के बिना प्राणी मात्र का कोई अस्तित्त्व नहीं है परन्तु हम वायु का आभास तो करते हैं परन्तु उसे देख नहीं पाते। वैसे ही श्री भगवान की सत्ता का आभास तो होता हैं परन्तु प्रत्यक्ष आभास नहीं होता अप्रत्यक्ष आभास होता हैं। इसी को आकार रहित कहते हैं। निराकार कहते हैं। अप्रत्यक्ष कहते हैं। अप्रकृट कहते है। वह होकर भी नहीं है। श्री भगवान वह सत्ता हैं जो है भी और प्रतीत भी नहीं होती। वे सत भाव से हैं और असत भाव से नहीं हैं। उनकी सत्ता है यह निश्चित है। वह सत्ता प्रतीत नहीं होती है। इसी विलक्षण भाव से श्री भगवान की सत्ता का बोध होता है।

38– सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। 9/7।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।। 9/8।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में भी अपनी विशेष सत्ता का प्रकटीकरण करते हुए कहा कि कल्पों के अन्त में समस्त प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त हो जाते है और कल्पों के आरम्भ होने पर मैं फिर उनको रचता हूं। अपनी प्रकृति को धारण करके स्वाभाव के पराक्रम से आवश हुए इस समग्र भूत प्राणियों को बारम्बार रचता हूं।

इस प्रकरण में भी श्री भगवान ने अपनी तीनों स्थितियों का वर्णन किया है। जब यह सृष्टि आरम्भ होती है तो उसे कल्प का आरम्भ होना कहते हैं और जब सृष्टि समाप्त होती है तो उसे कल्प का अंत होना कहा जाता है। कल्प के आरम्भ में सृष्टि प्रकट होती है और कल्प के अंत में सृष्टि समाप्त होती है। जब सृष्टि का अंत होता है तो समस्त जीव श्री भगवान में ही लीन हो जाते हैं। समा जाते हैं और श्री भगवान हीं उन्हे पुनः सृष्टि के आरम्भ में रचते है। बनाते हैं। एक कल्प और अनेक कल्पों में यह प्रक्रिया चला करती है। कल्प के आरम्भ में सृष्टि का निर्माण श्री भगवान के द्वारा होता है और कल्प के अंत में सृष्टि का अंत श्री भगवान के द्वारा होता है। यह विशेष बात है और श्री भगवान की सत्ता के स्पष्टीकरण के लिए विशेष तथ्य हैं इससे अधिक श्री भगवान की सत्ता का और क्या स्पष्टीकरण हो सकता है? सृष्टि का निर्माण, सृष्टि का पालन पोषण और सृष्टि का समापन करने वाली सत्ता श्री भगवान है यह तथ्य इन श्लोकों में स्पष्ट हो जाता है।

39– न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।। 9/9।।

सृष्टि जैसा विशाल कर्म करने के पश्चात् भी परमात्मा को यह कर्म बांधते नहीं हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! उस सृष्टि निर्माण के कर्म में आसक्तिविहीन और उदासीनवत भाव से स्थित रहता हूं। इसलिए मुझे कर्मबंधन नहीं होता।

श्री भगवान ने सृष्टि जैसे विशाल कर्म को आसक्तिरहित स्थिति में और उदासीनवत स्थिति में करने की बात कही है। मनुष्य कोई छोटा भी कर्म करता है तो उसकी आसक्ति उस कर्म में हो जाती है और उदासीनता नहीं रहती है क्योंकि कर्म के कर्तापन का भाव

रहता है। कर्म के कर्तापन का भाव जब आ जाता है तो उसी को आसक्ति कहते है उसमें उदासीनवतभाव नहीं रहता है श्री भगवान इस भाव के परे है। यही एक सामान्य पुरूष और श्री भगवान में अंतर है। श्री भगवान सृष्टि निर्माण जैसा विशाल कर्म आसक्ति से रहित होकर करते हैं इसलिए उन्हें कर्म बंधन नहीं होता और हम सभी छोटे कर्म भी आसक्ति से युक्त होकर करते है। इसलिए कर्म बंधन होता हैं। यह प्रकरण भी श्री भगवान की सत्ता को स्पष्ट करता है।

40– मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। 9/10।।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपने अधीन कार्य करने वाली शक्ति बताते हुए कहा है कि अर्जुन! मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर सम्पूर्ण जगत की रचना करती है। इसी कारण से यह जगत निरन्तर प्रवर्तित हो रहा है अर्थात् घूम रहा है।

वस्तुतः प्रकृति एक ऐसी सत्ता है जो श्री भगवान के अधीन कार्य करती है। श्री भगवान की अध्यक्षता में सृष्टि का निर्माण होता है। परन्तु सृष्टि में अनेक प्रकार के लोक पृथ्वी आदि ग्रह, सूर्य, चन्द्रमा सभी कुछ प्रकृति के द्वारा निर्मित होता है। समस्त प्राणी मात्र यह सब प्रकृति ही निर्मित करती है और इसी निर्माण के आधार पर यह समग्र संसार निरन्तर प्रवर्तित हो रहा है। आज करोड़ों वर्षो से जो सृष्टि निरन्तर चल रही है और आगे भी चलती रहेगी। परन्तु अध्यक्षता श्री भगवान की है। प्रकृति उसमें सहायक है। प्रकृति जैसी निर्माणकारी सत्ता की अध्यक्षता करने के कारण श्री भगवान विशिष्ट है उनकी सत्ता विशिष्ट है।

41– अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्रम्।। 9/11।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। 9/12।।

श्री भगवान ने उन मनुष्यों की ओर संकेत करके यह श्लोक कहे जो श्री भगवान को सामान्य मनुष्य मानते हैं। श्री भगवान ने कहा कि मेरे परम भाव को न जानकर मूर्ख मनुष्य मुझे शरीर धारण करने वाला समझते हैं। जबकि मैं सम्पूर्ण भूतों का महान ईश्वर हूं। ऐसे मनुष्यों की बेकार आशाऐं बेकार कर्म होते हैं। वे व्यर्थ ज्ञान वाले और मानसिक रूप से विक्षिप्त अज्ञानीजन है तथा वे राक्षसी, आसुरी और मोहनी स्वभाव के आश्रित रहते है।

इन श्लोकों में श्री भगवान ने उन व्यक्तियों की ओर संकेत किया है जो श्री भगवान को एक सामान्य मनुष्य के रूप में मानते हैं। सृष्टि निर्माण और सृष्टि का समापन करने वाली सत्ता के स्वरूप में श्री भगवान को न मानना वस्तुतः मूर्खतापूर्ण कार्य है। इसीलिए श्री भगवान ने उन मनुष्यों के लिए मूढ़ाः पद का प्रयोग किया जो वास्तव में मूर्ख हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्तियों की आशा भी मूर्खतापूर्ण होती है। उनके कर्म भी मूर्खतापूर्ण होते है। उनके सिद्धान्त भी मूर्खतापूर्ण होते हैं और वे अज्ञान से आवृत रहकर मानसिक रूप से विक्षिप्त होते है। उनके कार्य राक्षसी और आसुरी स्वभाव के होते है तथा स्वयं को जो ज्ञानवान मानते हैं। यह विशिष्ट बात है। श्री भगवान ने पूर्व के श्लोकों में सृष्टि के निर्माण और प्रकृति को अपने अधीन रखने वाला जो तथ्य कहा था उसी सिद्धान्त को न मानने वालों के लिए यह एक प्रकरण व्याख्यापित किया है। इससे उनकी विशेष सत्ता का प्रकटीकरण होता है।

42– महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। 9/13।।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। 9/14।।

श्री भगवान ने उन महानुभावों के लिए यह उपर्युक्त श्लोक कहे हैं जो भगवान की सत्ता को स्वीकार करते हैं। श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! दैवी प्रकृति के आश्रय में रहने वाले ज्ञानवान पुरूष मेरे को समस्त प्राणियों का सनातन हेतु, अव्यय स्वरूप समझकर अनन्य भाव से मेरा निरन्तर भजन करते हैं वे पुरूष दृढ़ निश्चय वाले होते हैं और सतत

मेरा कीर्तन करते हैं। मेरे साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील होते हैं। पुनः पुनः मेरे को प्रणाम करते है और निरन्तर मेरे ध्यान में संलग्न रहकर भक्ति भाव से मेरी पूजा करते हैं।

संसार में दो तरह के पुरुष हैं एक तो दैवीय प्रकृति के मनुष्य है और दूसरे आसुरी प्रकृति के मनुष्य हैं। दैवी प्रकृति के मनुष्य श्री भगवान की यथार्थ सत्ता का आभास करते है और आसुरी प्रकृति के मनुष्य श्री भगवान की सत्ता को नकारते हैं जो श्री भगवान की सत्ता को मानते है वे श्री भगवान के आश्रय में चले जाते हैं और वे श्री भगवान को समस्त सृष्टि का आदिकारण मानते हैं तथा उनके मन में यह तथ्य रहता है कि उनको छोड़कर और कहा जाया जाए। इसलिए वे बार बार श्री भगवान का स्मरण करते हैं उनको याद करते हैं उनको पुनः पुनः प्रणाम करते हैं तथा उनके मन में अनन्य भक्ति रहती है। ऐसे अनन्य भक्तों के लिए श्री भगवान ने यह अनेको बार कहा कि मैं उनको मृत्यु के उपरान्त मृत्यु और जन्म के बंधन से मुक्त कर देता हूं। इन श्लोकों में भी श्री भगवान की सत्ता का निरूपण होता है।

43– अहं क्रतुरहं यज्ञ स्वधाहमहमौषधम्।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। 9/16।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।। 9/17।।

श्री भगवान ने कहा कि मैं क्रतु हूं, मैं ही यज्ञ हूं, मैं ही स्वधा हूं, मैं ही औषधि हूं, मैं ही मंत्र हूं, मैं धृत हूं, मैं ही अग्नि हूं और मैं आहूति भी हूं। इस सम्पूर्ण जगत का पालन पोषण करने वाला पिता, माता, पितामह जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूं।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में यज्ञ का विशिष्ट वर्णन किया है। यज्ञ में जो कुछ औषधि पड़ती है। जिन मंत्रों का प्रयोग होता हैं। धृत आदि का प्रयोग होता है। अग्नि में घृत आदि डाला जाता है और उसमें जिन मंत्रों का प्रयोग होता है और जो आहूति दी जाती है वह सबका सब श्री भगवान हैं। ऐसा भाव देकर श्री भगवान ने यज्ञ को अपना

स्वरूप बताया है अर्थात् जितने प्रकार के यज्ञ इस संसार में होते है उन समस्त प्रकार के यज्ञों का स्वरूप श्री भगवान हैं। इस समग्र जगत के लिए जितने भी प्राणी है उनके पालन पोषण की व्यवस्था श्री भगवान के अधीन है वे समग्र प्राणियों के पिता है माता है पितामह है और वस्तुतः इस संसार में जिसे जाना जाए वह भी श्री भगवान है और वेदों का जो ज्ञान है वह भी श्री भगवान के स्वरूप में है। इन श्लोकों से श्री भगवान की स्थिति और सत्ता का विशिष्ट निरूपण हुआ हैं

44– गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। 9/18।।

तपाम्यहमहं वर्ष निगृहाण्युत्सृजामि च।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। 9/19।।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में अपनी सत्ता का विशेष निरूपण करते हुए यह कहा जो कुछ भी प्राप्त किया जाए वह मैं हूं। सबका पालन पोषण भी मैं करता हूं। सबका वास्तविक स्वामी मैं हूं। मैं सबका साक्षी हूं। सबका हित चाहने वाला हूं। उत्पत्ति और विनाश करने वाला भी मैं हूं। सबकी वास्तविक स्थिति का मैं आश्रय हूं। मैं ही निधान हूं और अविनाशी बीज भी मैं ही हूं। मैं ही सूर्य रूप से तपता हूं। वर्षा का आकर्षण करता हूं और उसे प्रकट करता हूं। मैं ही अमृत और मैं ही मृत्यु भी हूं। सत् और असत् भी मैं हूं।

वस्तुतः संसार में जो कुछ भी प्राप्त किया जाता है वह सब विनाशशील स्वभाव का है। अविनाशी तो एक मात्र श्री भगवान हैं इसलिए वे प्राप्त करने योग्य हैं। श्री भगवान के आश्रय से ही उनके निर्देश से ही समस्त प्राणियों का पालन पोषण होता है। इसलिए वे सबके स्वामी हैं। वे प्रत्येक क्रिया के साक्षी हैं और सबका अकारण कल्याण करने वाले हैं। सब प्राणियों की उत्पत्ति का और उनके समापन का भी यह कारण है। सबकी स्थिति को बनाए रखने वाले भी वहीं है तथा जब सृष्टि का अंत होता है तो उन्ही में सब प्राणियों की स्थिति होती है तथा वे अव्यय बीज भी हैं जो कभी विनिष्ट नहीं होता। सूर्य में जो अग्नि है या तापक्रम है वह श्री भगवान का दिया हुआ है। वे ही बरसात करते हैं। वे ही जीवन देते

है। वे ही समय से मृत्यु उपस्थित कर देते हैं। वे वस्तुतः सत् की सत्ता है और जो असत् सत्ता प्रतीत हो रही है उसके भी वे कारण हैं।

45– अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। 9/22।।

श्री भगवान ने अपने भक्तों को आश्वस्त करते हुए यह कहा कि जो अनन्य भक्त महानुभाव मेरा लगातार चिंतन करते हुए मेरा पूजन करते हैं उन सतत चिंतन करने वाले महानुभावों का योग क्षेम मैं स्वयं प्राप्त करा देता हूं।

श्री भगवान ने इस श्लोक में अपने भक्तजनों के लिए एक विशेष आश्वासन प्रदान किया है और यह कहा है कि मेरा भक्त यदि मेरी उपासना फल की इच्छा का परित्याग करके करता है तो उसकी जो आवश्यकता है अथवा उसका जो लक्ष्य है उसमें सहयोग की उपस्थिति कराना मेरा दायित्व है। मैं संयोग की उपस्थिति स्वयं करा देता हूं। क्योंकि प्रत्येक परिणाम में सहयोग ही उपस्थित होता है या तो मनुष्य अपने कर्म के प्रभाव से संयोग उपस्थित करता है अथवा परमात्मा की कृपा से होता है परन्तु जो परमात्मा की कृपा से होता है वह स्थिति केवल प्रेमी भक्तों के लिए है। चूंकि समग्र व्यवस्था श्री भगवान के अधीन है इसलिए सहजता से योगक्षेम उपलब्ध करा देना श्री भगवान के लिए सहज है। वस्तुतः इस जीवन का लक्ष्य भगवद्प्राप्ति है और भगवद्प्राप्ति के लिए जो साधन होता है उसको निरन्तर बनाए रखना यह श्री भगवान की कृपा से होता है। वैसे नहीं होता है। इसमें भी श्री भगवान ने अपनी सत्ता का विशेष निरूपण किया है।

46– अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। 9/24।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितन्यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।। 9/25।।

श्री भगवान ने इन श्लोकों में अपनी विशिष्टता को निरूपित करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! समस्त प्रकार के यज्ञों को भोगने वाला और उनका स्वामी मैं ही हूं परन्तु वे मेरे प्रभाव को तत्त्व से नहीं समझ पाते इसलिए उनका पतन होता है अर्थात् वे जन्म और मृत्यु के चक्कर में घूमा करते हैं जो देवताओं की पूजा करते हैं उन्हे देवता प्राप्त होते हैं। जो पितरो की पूजा करते हैं उन्हे पितर प्राप्त होते हैं जो भूतों की पूजा करते है उन्हें अंततः भूत प्राप्त होते है और जो मेरी पूजा करते हैं उन्हे अंततः मैं प्राप्त होता हूं। इसलिए मेरे उपासक वे आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाते हैं।

श्री भगवान ने सैद्धान्ति रूप से यह व्यवस्था देते हुए कहा जितने प्रकार के भी यज्ञ है उनका भोक्ता तो मैं ही हूं। मेरे ही अधीन समस्त यज्ञ होते हैं परन्तु देवताओं की उपासना, पितरों की उपासना, भूत प्रेतों की उपासना से मनुष्य को वही प्राप्त होता है जिसकी वे उपासना करते हैं। परन्तु मेरी उपासना से वह शाश्वत परमपद प्राप्त हो जाता है। जिसको प्राप्त करने के उपरान्त पुनः इस पृथ्वी लोक पर नहीं आना पड़ता है। यह विशिष्ट बात है। इस तथ्य से श्री भगवान की सत्ता का विशेष निरूपण हुआ है।

47– पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। 9/26।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्। 9/27।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि। 9/28।।

श्री भगवान ने अपनी उपासना की सहजता का निरूपण करते हुए कहा कि कोई भी मनुष्य मुझको भक्तिपूर्वक पत्र अर्थात् पत्ते, फूल, फल, जल आदि अर्पित करता है तो उस भक्त का भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मैं प्रेमपूर्वक ग्रहण कर लेता हूं। इस कारण जो भी कर्म करों, जो भी ग्रहण करो, जो भी हवन करो, जो भी

दान करो, जो भी तप करो, वह सबका सब मुझे अर्पित कर दो। ऐसा करने से शुभाशुभ परिणाम से तुमको मुक्ति मिल जाएगी और मुक्त होकर अंततः तुम्हे मेरी प्राप्ति होगी।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने एक विशिष्ट भाव दिया है अपनी सत्ता का निरूपण भी किया है। श्री भगवान को सामान्य वस्तुऐं पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भक्ति भाव से ही अर्पित करना चाहिए। क्योंकि भक्तिभाव से अर्पित किए हुए जल फल आदि को श्री भगवान ग्रहण करते है इसके अतिरिक्त जो कुछ भी शुभकर्म मनुष्य के द्वारा किये जाते हैं वे यदि श्री भगवान को अर्पित हो जाए तो इससे श्री भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव उत्पन्न हो जाता है। कर्म बंधन वहां पर होता है जब हम किसी भी कर्म को संसार के प्रति अर्पित करते है। भगवान के प्रति अर्पित करने से कर्म बंधन नहीं होता। कर्म बंधन न होना ही मुक्ति का कारण माना जाता है और केवल भावनात्मक रूप से श्री भगवान के प्रति सब कुछ अर्पित कर देना ही मुक्ति का हेतु है। इसमें भी श्री भगवान ने अपनी सत्ता का विशेष निरूपण किया है।

48– समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29।।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तवयः सम्यग्व्यवसितो हि सः। 9/30।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।। 9/31।।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में विशेष भाव दिए हैं और यह कहा है कि मैं समस्त प्राणियों में समान भाव रखता हूं। इसलिए मेरा कोई प्रिय और अप्रिय नहीं है। परन्तु वे लोग मेरे प्रिय हैं, जो मेरे को भजते हैं। मैं उनमें सदैव प्रकट रहता हूं। यदि कोई अत्यंत दुष्कर्मी व्यक्ति भी अनन्य भाव से मेरा पूजन करता है तो वह साधु के स्वरूप में है। क्योंकि उसने मेरे भजन का निश्चिय कर लिया है। ऐसी स्थिति में शीघ्र ही वह दुराचार

छोड़कर धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति को शीघ्र प्राप्त होता है। हे अर्जुन! ऐसा निश्चित समझे कि मेरा भक्त कभी भी विनिष्ट नहीं होता।

श्री भगवान समस्त प्राणियों के पिता हैं। इसलिए उनका कोई प्रिय अप्रिय नहीं है। वे सभी के प्रति समान भाव रखते हैं परन्तु जो श्री भगवान को सदैव स्मरण रखता है उनकी भक्ति करता है वह ही श्री भगवान को अत्यंत प्रिय है। कोई अगर दुष्कर्मी व्यक्ति भी श्री भगवान की भक्ति की ओर उन्मुख हो जाए तो वह शीघ्र ही दुष्कर्मो का परित्याग कर देता है। ऐसा दुष्कर्मी व्यक्ति शीघ्र ही धर्म का आचरण करने लगता है तथा उसके दुष्कर्म स्वतः ही छूट जाते हैं और वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। केवल यथार्थ निश्चिय करना है कि हमें श्री भगवान की भक्ति करनी है। श्री भगवान की भक्ति का इतना व्यापक प्रभाव है कि वह कभी नष्ट नही होता और सदैव परम शान्ति प्रदान करता है। इसमें भी श्री भगवान ने अपनी विशेष सत्ता का निरूपण किया है।

49– मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। 9/32।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। 9/33।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। 9/34।।

श्री भगवान ने अपनी विशेष शरणागति और भक्ति का वर्णन करते हुए कहा कि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पाप योनि का कोई व्यक्ति भी यदि हमारे आश्रय में आ जाए तो उसे भी परमगति मिल जाती है और यदि पुण्यात्मा ब्राह्मण, राजर्षि भक्त हो तो फिर इसमें कोई बात नहीं है। इसलिए इस सुखविहीन अनित्य मनुष्य देह को प्राप्त करके मेरा ही भजन मनुष्य को करना चाहिए। इसके लिए मेरे में मन को लगा दें। मेरे भक्त हो जाए। मेरी ही उपासना करें। मुझको ही नमस्कार करें। ऐसा करने से मुझमें स्थिति हो जाएगी। मेरा आश्रय हो जाएगा और मेरी प्राप्ति भी हो जाएगी।

श्री भगवान ने सभी के लिए बराबर अधिकार देते हुए कहा कि चाहें स्त्री हो, वैश्य हो, शूद्र हो, पापाचारी मनुष्य हो, सभी को मेरी शरण ग्रहण करनी चाहिए और यदि उसने ऐसा कर लिया तो निश्चित ही उसे परम गति मिलती है। जो पुण्यात्मा ब्राह्मण और राजर्षि है उन्हें तो संसार का परित्याग करके निरन्तर मेरी उपासना करनी चाहिए। क्योंकि यह मानव देह दुःखों का समूह है और कुछ समय के लिए प्राप्त हुई है। मानव देह महत्वपूर्ण है। इसलिए इसकी प्राप्ति हो जाने पर मेरा निरन्तर भजन करना ही कल्याण का कारण है। ऐसा करने के लिए केवल मेरे में मन का समर्पण कर दें। मेरे भक्त हो जाए अर्थात् जो मानसिक क्रियाएं होती हैं वे संसार से हटाकर मेरे में लगा दें। मेरा सब विधि पूजन करें और मुझको बार बार प्रणाम करें। ऐसा करने से मेरा आश्रय मिल जाता है और अंततः मेरी प्राप्ति हो जाती है।

50– भूय एवं महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।। 10/1।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।। 10/2।।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपनी विशेष स्थिति को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि हे अर्जुन! मैं पुनः परम गोपनीय वचनों को तुम्हारे कल्याण की की आकाक्षा से कहूंगा। क्योंकि तुम हमारे अत्यंत प्रिय हो। मेरे प्रभव को देवताजन और महर्षिजन नहीं जानते। क्योंकि मैं समस्त देवताओं व महर्षियों का भी आदिकारण हूं।

उक्त प्रकरण में पुनः रहस्यप्रद तथ्य को श्री भगवान ने कहा और यह स्पष्ट किया कि जितने भी देवतागण और जितने भी महर्षिगण हैं उनकी उत्पत्ति भी श्री भगवान के द्वारा की गई है। इस ब्रह्मांड की व्यवस्था में अनेक देवगण लगे रहते हैं। ब्रह्मांड अनन्त है और इसमें असंख्य लोक हैं। प्रत्येक लोक की अपनी अलग–अलग व्यवस्था है और इस सम्पूर्ण व्यवस्था को देवतागण देखते हैं। उसी प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध में धर्म का विनिश्चय आदि महर्षियों के द्वारा होता है। जितने भी देवता है और जितने भी महर्षि हैं वे श्री भगवान को नहीं जानते। उनकी उत्पत्ति किस प्रकार से होती है ? इस तथ्य का ज्ञान

देवता और महर्षिगणों को नहीं है। परन्तु श्री भगवान देवताओं की उत्पत्ति और महर्षियों की उत्पत्ति को जानते हैं। क्योंकि श्री भगवान ही उनकी उत्पत्ति का कारण है।

51– यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।। 10/3।।

श्री भगवान ने इस श्लोक में अपने को जन्मरहित और अनादि तथा समस्त लोकों का महान ईश्वर कहा है और यह कहा कि हे अर्जुन! जो कोई मनुष्य मुझको अजन्मा, अनादि और लोकों का महान ईश्वर जान जाता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान मनुष्य समस्त पापों से छूट जाता है।

श्री भगवान वस्तुतः जन्म रहित हैं। आदि अंत से रहित है और इस ब्रह्मांड में जितने भी लोक हैं उन सबके स्वामी हैं। इन तीनों तथ्यों में विशेष बात यह है कि यदि मनुष्य श्री भगवान को जन्म लिया हुआ मानेगा तो वह श्री भगवान की उपासना नहीं कर पाएगा। मनुष्यों का आदि और अंत होता है। परमात्मा का नहीं होता। मनुष्य इस संसार में स्वामी नहीं होता है। इसलिए उसके पास जो कुछ होता है वह मृत्यु के समय छूट जाता है परन्तु परमात्मा सदैव ही स्वामी रहते हैं वे आदि अंत से रहित हैं। इसलिए समस्त लोकों को बनाने वाले और उनका समापन करने वाले वही हैं। इस तथ्य को समझ लेने के उपरान्त मनुष्य श्री भगवान की ही पूजा उपासना करता है और ऐसा करके वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यदि मनुष्य इसके प्रतिकूल श्री भगवान की स्थिति देखता है तो वह श्री भगवान की पूजा उपासना भी नहीं करता है और अहंकार से आवृत्त हो जाता है। इस प्रकार इस प्रकरण में भी श्री भगवान ने अपनी विशेष स्थिति का वर्णन किया है।

52– बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।। 10/4।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। 10/5।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में यह कहा कि हे अर्जुन! मनुष्यों में जो अनेक तथ्यों का विनिश्चय करने की शक्ति है वह मैं हूं और जो वास्तविक तत्त्व ज्ञान है वह भी मैं हूं। बुद्धिमतापूर्ण कार्य वह भी मैं हूं। दूसरों को अभयदान देने की शक्ति वह भी मै हूं। यथार्थ तत्त्व का विनिश्चय करने का जो तथ्य है जिसे सत्य कहा जाता है वह भी मैं हूं। समग्र इन्द्रियों को अनेक विषयों से बचाने का जो भाव है वह भी मैं हूं। चंचल मन को अनेक प्रकार के अनावश्यक चिंतनों से सुरक्षित रखने का जो भाव है वह भी हूं। इसके अतिरिक्त और सुख और उसके प्रतिकूल दुःख, इस जगत की उत्पत्ति और उसका समापन भी मैं हूं, भय भी मेरे से उत्पन्न होता है और भयरहित स्थिति भी मुझसे उत्पन्न होती है। हिंसा का प्रतिकूल भाव भी मेरे से आता है। सभी को एक समान समभाव से देखने का भाव भी मेरे से प्रकट होता ँ संतुष्टि की पराकाष्ठा भी मेरे द्वारा होती है। तपश्चर्या का भाव और दान का भाव मैं ही प्रकट करता हूं। किसी को यश और दूषित कर्मो के उपरान्त उसे अपयश मेरे द्वारा ही प्रदान किया जाता है। इस प्रकार सभी मनुष्यों में जो पृथक्–पृथक् प्रकार के भाव होते हैं वह मेरे से ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् मैं ही उनकी उत्पत्ति का कारण हूं। श्री भगवान ने इन श्लोकों में अपनी विशेष स्थिति का वर्णन किया है कि मनुष्यों में चाहें गुण वाले भाव हों अथवा अवगुण वाले भाव हो वे सभी भाव श्री भगवान के द्वारा ही उत्पन्न होते है। अन्यत्र कहीं से नहीं आते हैं।

53– महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।। 10/6।।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में यह कहा कि सबसे पहले जो चार सनकादि ऋषि उत्पन्न होते हैं वे भी मेरे से ही उत्पन्न होते हैं, सात महर्षिजन, 14 मनु यह सबके सब मेरे मानसिक पुत्र हैं और इनकी ही सम्पूर्ण संसार में यह प्रजा है। जो वर्तमान में है पहले भी थी और आगे भी रहेगी।

सृष्टि के आदि में अर्थात् उत्पत्ति के समय श्री भगवान सृष्टि की रचना का संकल्प लेते है और इस संकल्प में पहले चार सनकादि ऋषि उत्पन्न होते हैं। इनके नाम है सनक, सनन्दन, सनातन और सनत कुमार। इसके अतिरिक्त सात महर्षि मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ भी श्री भगवान के द्वारा उत्पन्न किये जाते है और

चौदह मनु जो इस संसार की व्यवस्था देखते है उनके नाम है, 1–स्वायम्भुव, 2–स्वारोचिष, 3–उत्तम, 4–रैवत, 5–तामस, 6–चाक्षुष, 7–वैवस्वत, 8–सावर्णि, 9–दक्षसावर्णि, 10–ब्रहसावर्णि, 11–धर्मसावर्णि, 12–रूद्रसावर्णि, 13–देवसावर्णि, और 14–इन्द्रसावर्णि भी श्री भगवान के द्वारा उत्पन्न होते हैं। तब इस संसार की व्यवस्था चलती है। इस प्रकार सृष्टि के उत्पत्ति का कारण होने के कारण श्री भगवान की विशिष्ट स्थिति है।

54– एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। 10/7।।

श्री भगवान ने कहा कि जो कोई साधक मेरे इस प्रकार की अनन्त विभूति को तथा मेरी यौगिक सत्ता को तत्त्व से समझ लेता है वह बिना भ्रमित हुए योगयुक्त हो जाता है इसमें कुछ संशय नहीं है।

जब हम किसी सत्ता के बारे में यथार्थरूप से जान जाते हैं तो उस सत्ता का वैसा ही सम्मान करते है जैसी वह सत्ता होती है। श्री भगवान ने अपनी सत्ता का निरूपण इससे पूर्व के प्रकरणों में स्पष्ट रूप से किया है। इस परम और अनन्त सत्ता का मनुष्य को यदि ज्ञान हो जाता है तो वह निश्चित रूप से श्री भगवान की भक्ति में ही लीन हो जाता है। जब तक संशय रहता है तब तक भक्ति में परिपक्वता नहीं आती है और जब संशय समाप्त हो जाता है तो भक्ति भी परिपक्व हो जाती है। श्री भगवान के परम ऐश्वर्य स्वरूप को समझकर उनकी सत्ता सामर्थ्य को जानकर यथार्थरूप से मनुष्य उनकी ही उपासना करता है अन्य सभी प्रकार की उपासनाओं का स्वतः ही परित्याग कर देता है तब उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण में भी श्री भगवान ने अपनी विशिष्ट स्थिति का वर्णन किया है।

55– अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः। 10/8।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। 10/9।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। 10/10।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानानजं तमः।

नाशायाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। 10/11।।

श्री भगवान ने कहा कि मैं ही समस्त संसार को उत्पन्न करने वाला हूं और समस्त संसार को उत्पन्न करने के कारण यह समग्र संसार मेरे में ही प्रवर्तित हो रहा है ऐसा मानकर भाव से भरकर बुद्धिमान पुरूष मुझे उत्पत्ति का कारण समझकर मेरा ही निरन्तर भजन करते हैं। मुझमें ही अपने चित्त को लगा देते हैं। प्राणों को भी मुझे अर्पित कर देते है और अनेक भक्त आपस में मिलकर मेरे प्रभाव की तथा गुणों की चर्चा करते हैं। सदैव संतुष्ट होते रहते हैं ऐसे महानुभाव मुझमें ही रमण करते हैं। ऐसा करने पर उन नित्य निरन्तर ध्यान में स्थित साधकों को प्रीतिपूर्वक भजन करने वाले भक्तों को मैं बुद्धियोग दे देता हूं। अर्थात् वह मार्ग बता देता हूं जिससे वह मेरा साक्षात्कार कर लेते है। ऐसे भक्तों पर कृपा करने के लिए मैं उनके अंतःकरण में उपस्थित हो जाता हूं और मैं स्वतः ही अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को प्रकाशयुक्त तत्त्वज्ञान रूपी दीपक के द्वारा नष्ट करके यथार्थ प्रकाश की उत्पत्ति कर देता हूं।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने अपनी विशिष्ट स्थिति का वर्णन किया है और कहा है कि मैं ही समग्र संसार को उत्पन्न करता हूं। जब मैं समस्त संसार को उत्पन्न करता हूं तो संसार की जितनी भी क्रियाविधि है वह मेरे में ही होती है अन्य में नहीं होती। कोई मनुष्य मेरे अतिरिक्त कोई चेष्टा नहीं कर सकता। जब मैं संसार की उत्पत्ति का कारण हूं तो यह भाव जब दृढ़ हो जाता है तो साधक मेरे प्रति भक्तिभाव रखता है और उसका जो चित्त संसार में जाता था वह संसार के विषयों को छोड़कर मेरे में आता है। उसकी जो श्वांस प्रश्वांस संसार के प्रति समर्पित थी वह मेरे प्रति समर्पित हो जाती है जो संसार का गुणगाान उसके द्वारा होता था उसके स्थान पर मेरा गुणगान होता है। संसार में क्षणिक संतुष्टि है और मेरे में सम्पूर्ण संतुष्टि है। इसलिए संसार में रमण करने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और मेरे में ही ध्यान लगता है। प्रेमपूर्वक मेरा भजन होता है और ऐसे लोगों

को मैं बुद्धि को दे देता हूं। अर्थात् ऐसी बुद्धि उत्पन्न कर देता है जिससे उन्हें यथार्थ का बोध हो जाता है और तब वे मुझको प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे भक्तों पर मैं कृपा की वर्षा करता हूं और स्वयं ही उनके अंतःकरण में उपस्थित होकर के जो उनका अज्ञान है उसको समाप्त करने के लिए ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश प्रकट कर देता हूं। जिससे वे हमारा साक्षात्कार कर लेते है। श्री भगवान ने इन श्लोकों में अपनी विशेष सत्ता का निरूपण किया है।

56– परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरूषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्। 10/12।।

आहुस्तवामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे। 10/13।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। 10/14।।

अर्जुन ने कहा कि हे भगवन! मैं मानता हूं कि आप जगत की उत्पत्ति का कारण परम ब्रह्म हैं, परम आश्रय और परम पवित्र हैं। आपको सभी ऋषिगण शाश्वत अलौकिक पुरूष मानते हैं आप देवो के भी आदि देव हैं। अजन्मा हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं। ऐसा ऋषियों का मानना है तथा देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि, महर्षि व्यास भी ऐसा ही आपके प्रति कहते हैं। हे भगवन! जैसा भी आप मेरे सम्बन्ध में कहते है उन सबको मैं यथार्थ स्वरूप में स्वीकार करता हूं। आपके व्यक्तित्व को राक्षसगण और देवगण नहीं जान सकते।

अर्जुन ने श्री भगवान की विशिष्ट सत्ता का प्रतिपादन करते हुए उन्हे परम ब्रह्म कहा बह्म पद परमात्मा के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्म वह सत्ता है जो इस जगत का आदिकारण है और अर्जुन ने उन्हें परम आश्रय कहा और परम पवित्र कहा। ऐसा अर्जुन का ही मानना नहीं है। ऐसा मानना अनेक ऋषियों का है। उन्होंने यह कहा कि आप देवों के भी आदि कारण हैं, जन्मरहित हैं और सर्वत्र उपस्थित हैं। मैं जो कुछ आपके प्रति समझ पा रहा हूं वैसा ही मानना नारद, असित, देवल ऋषि का भी है। इसलिए जो कुछ भी आपने

अपने बारे में कहा है वह सब सत्य है और उसे मैं यथावत् मानता हूं। अर्जुन के द्वारा इस प्रकरण में जो कुछ भी कहा गया है वह श्री भगवान की सत्ता का विशेष निरूपण है।

57– स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरूषोत्तम।

भूतभावन भूतेश देव देव जगत्पते।। 10/15।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि। 10/16।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।। 10/17।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। 10/18।।

अर्जुनने कहा कि हे भगवन! आप समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाले है। समस्त प्राणियों के महान ईश्वर हैं। देवों के भी देव हैं। इस संसार के स्वामी हैं। पुरूषों में उत्तम हैं। आप स्वयं ही स्वयं को जान सकते हैं। आप के अतिरिक्त आप को कोई नहीं जानता। इसलिए आप ही अपनी अलौकिक विभूतियों को समग्रता से कहने में सक्षम है। जिन विभूतियों के द्वारा आप समग्र लोकों को व्याप्त करके स्थित है। हे योगेश्वर ! उन विभूतियों का मैं किस प्रकार चिंतन करता हुआ आपको समझ सकू तथा हे भगवान! कैसे कैसे भावों के द्वारा मैं आपका चिंतन करूं ? हे जनार्दन ! अपनी योग शक्ति को और विभूति को मेरे समक्ष विस्तृत रूप से वर्णन कीजिए। क्योंकि आपके अमृत तुल्य वचनों को सुनकर मेरी तृप्ति नहीं होती। अर्थात् सुनने की अभिलाषा रहती है।

अर्जुन ने श्री भगवान को समस्त प्राणियों का उत्पन्न करने वाला कहा। समस्त प्राणियों का ईश्वर कहा और समस्त देवताओं का भी स्वामी कहा। इस संसार का स्वामी कहा। पुरूषों में अति उत्तम कहा तथा श्री भगवान ही स्वयं को समझ सकते हैं। ऐसा कहा। श्री भगवान ही अपनी विभूतियों को सम्पूर्णता से वर्णित कर सकते हैं। यह तथ्य

एकदम स्पष्ट है। क्योंकि उनकी स्थिति इस पृथ्वी लोक के अतिरिक्त भी अन्य लोकों में है। श्री भगवान का ही चिंतन होना चाहिए और वह किन किन भावों में होना चाहिए यह उनकी विभूतियों से ही स्पष्ट हो सकता है। इसलिए अर्जुन ने श्री भगवान से उनकी विभूतियों को जानने की इच्छा की है और यह कहा है कि मैं उन विभूतियों को आपके श्री मुख से सुनना चाहता हूं। इस प्रकरण में भी भगवान की सत्ता का विशिष्ट तथा निरूपण स्पष्ट होता है।

58– हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

प्राधान्यतः कुरूश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। 10/19।।

श्री भगवान ने अर्जुन के ऐसा कहने पर यह कहा कि मैं अपनी दिव्य विभूतियों को संक्षेप में अर्थात् प्रधानता से वर्णित करूंगा। क्योंकि मेरी विभूतियों का बहुत विस्तार है। श्री भगवान ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए यह कहा।

हे अर्जुन ! मैं समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित सभी का चेतन तत्त्व आत्मा हूं तथा समस्त प्राणियों का उत्पत्ति, उनकी मध्य स्थिति और अंत स्थिति मैं ही हूं। मैं ही अदिति के पुत्रों में विष्णु हूं। ज्योतियों में रश्मियों वाला सूर्य हूं। 49 वायु देवताओं में मरीचि हूं। नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा हूं। वेदों में सामवेद, देवों में भगवान इन्द्र, इन्द्रियों का स्वामी मन, समस्त प्राणियों में उनकी चेतन शक्ति हूं। 11 रूद्रों में भगवान शंकर हूं तथा यक्ष और राक्षसों में धन का अधिपत्य कुबेर हूं। आठ वसुओं में अग्नि हूं और शिखर वाले पर्वतों में सुमेर पर्वत हूं। पुरोहितों में उनका मुखिया बृहस्पति हूं। सेनापतियों में स्कन्ध हूं। जलाशयों में अचल प्रतिष्ठा वाला समुद्र हूं। मैं ही महर्षियों में भृगु महर्षि हूं। शब्दों में एक अक्षर अर्थात् प्रणव हूं। सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ हूं और स्थिर रहने वालों में हिमालय पहाड़ हूं। सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में देवर्षि नारद, गंधर्वो में चित्ररथ और सिद्धों में भगवान कपिल मुनि हूं। घोड़ों में समुद्र मंथन के समय अमृत के सहित उत्पन्न होने वाला उच्चैश्रवा नाम का घोड़ा, हाथियों में ऐरावत हाथी, मनुष्यों में राजा मेरे को ही समझना चाहिए। मैं शस्त्रों में बज्र हूं। गायो में कामधेनु गाय हूं। संतान की उत्पत्ति का कारण कामदेव हूं। सर्पो में सर्पराज वासुकी हूं। नागों में शेषनाग हूं। जलचरों का स्वामी वरूण मैं ही हूं। पितरो में अर्यमा पितर मैं ही हूं। दैत्यों में प्रहलाद, गणना करने वालों में मैं काल

अर्थात् समय हूं। पशुओं में मृगराज सिंह, पक्षियों में गरूण हूं। पवित्र करने वालों में वायु, शस्त्रधारियों में श्रीराम हूं। मछलियों में मगर हूं और नदियों में पवित्र गंगा जी हूं। हे अर्जुन ! सृष्टि का आदि और अंत तथा मध्य मैं ही हूं। विद्याओं में अध्यात्म विद्या और विवाद करने वालों में मैं सही निश्चय करने वाला वाद हूं। अक्षरों में आकार हूं। समासों में द्वंद्व समास, अक्षयकाल अर्थात् महाकाल तथा सभी ओर मुख वाला विराट स्वरूप सबका पालन पोषण करने वाला मैं ही हूं। सबका विनाश मैं ही करता हूं। इसलिए मुझे मृत्यु कहते हैं। भविष्य में जो प्राणी उत्पन्न होते है उनकी उत्पत्ति का कारण मैं हूं। स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, और क्षमा मैं ही हूं। गायन करने वाली श्रुतियों में बृहत्साम, छंदों में गायत्री छंद हूं। महीनों में माघ का महीना, ऋतुओं में बसंत हूं। छल करने वालों में जुआ, और तेजस्वियों में उनका तेज हूं। मैं ही विजय हूं। विनिश्चय हूं। सात्त्विक पुरूषों का सात्त्विक भाव मेरे को ही समझ। वृष्णिवंशियों में वासुदेव, पाण्डवों में धनन्जय, मुनियो में वेदव्यास, कवियों में शुकाचार्य कवि मेरे को ही समझ। दमन करने वालों में दंड, जीतने की आकांक्षा वालों में नीति, गोपनीयों में मौन, ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूं। हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का बीज मैं हूं। क्योंकि कोई चर और अचर प्राणी नहीं है जो मुझसे विलग हो। हे अर्जुन! मेरी अलौकिक विभूतियों का अंत नहीं है और मैने अपनी प्रधान विभूतियों का विस्तार से और संक्षेप से वर्णन किया है, जो जो विभूतियुक्त तेजयुक्त, उर्जायुक्त वस्तु इस संसार में प्रतीत होती है। उसको तो मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान।

59– अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत।। 10/42

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! बहुत कुछ जानने से तेरा क्या अभिप्राय है ? मैं इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड को अपनी योगशक्ति के एक अंश से धारण करके स्थित हूं।

श्री भगवान ने इस उपर्युक्त श्लोक में यह तथ्य विशिष्ट कहा है कि श्री भगवान की जो सामर्थ्य है वह असंख्य है। सीमा रहित है। उसका विनिश्चय कर पाना असंभव है। जैसे ब्रह्मांड के विस्तार का विनिश्चय नहीं हो सकता है। वैसे ही श्री भगवान की सत्ता का भी विनिश्चय हो पाना असंभव है। श्री भगवान की सत्ता का विनिश्चय एक कल्पना है।

जहां तक हमारा भाव जाता है वहां तक इस सम्बंध में हम विचार कर सकते हैं परन्तु वह कल्पनातीत हैं। श्री भगवान अपनी सत्ता के एक भाग का ही प्रयोग करके इस ब्रह्मांड का धारण करते है। यह कथन श्री भगवान की सत्ता का विशेष निरूपण करता है।

60– श्री भगवान उवाच–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि तं न भविष्यन्ति सर्वे

येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।। 11/32।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहिताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। 11/33।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च

कर्ण तथान्यानपि योधवीरान्।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।। 11/34।।

श्री भगवान ने स्वयं के विराट स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा कि हे अर्जुन! मैं समस्त लोकों का विनाश करने वाला व्हदकाल हूं। इस समय समस्त लोकों को विनिष्ट करने के लिए प्रवृत्त हो चुका हूं। जो आपके प्रतिपक्षी सेना में योद्धाजन स्थित है वे सबके सब तेरे युद्ध किए बिना भी नहीं रहने वाले। इसलिए तुम उठो और कीर्ति को प्राप्त कर

लो। शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज का उपभोग करो। ये सब शूरवीर तो पहले से ही मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। ये सव्यसाचिन् तुम केवल निमित्त मात्र हो जाओ। द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, जयद्रत, कर्ण और भी बहुत से योद्धागण मेरे द्वारा ही मारे जा चुके हैं। तुम सूर्यवीर योद्धाओं को मार दो। भय से व्याकुल न हो युद्ध में शत्रुओं को तुम जीतोगे इसलिए युद्ध में संलग्न हो जाओ।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में अपने विराट स्वरूप का विशेष वर्णन करते हुए यह कहा कि मैं विराट स्वरूप के रूप में जितने भी लोक हैं उनको समाप्त करने के लिए महाकाल के रूप में प्रकट हुआ हूं और आपके प्रतिपक्षी जो भी पराक्रमी महानुभाव हैं वे सब तो मेरे द्वारा मारे जाने के कारण भविष्य में नहीं रहेंगे परन्तु शत्रुओं को मारकर केवल निमित्त मात्र हो जाए। द्रोणाचार्य, भीष्म, पितामह, जयद्रत, कर्ण आदि बहुत से शूरवीर योद्धा पहले से ही समाप्त हो चुके है। इसलिए तुम उठो और युद्ध करो। श्री भगवान के यह वचन उनकी सत्ता को स्पष्ट करते है।

61– अर्जुन उवाच–

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या

जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति।

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंग।। 11/36।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्

गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास

त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।। 11/37।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण–

स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम।

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।। 11/38।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांक

प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः।

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।। 11/39।।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते

नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।। 11/40।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं

मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।। 11/41।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि

विहारश्य्यासनभोजनेषु।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं

तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।। 11/42।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य

त्वमस्य पूज्यश्च गुरूर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्याधिकः कुतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।। 11/43।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं

प्रसादये त्वामहमीशमीडयम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।। 11/44।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा

भयन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव में दर्शय देवरूपं

प्रसीद देवेश जगन्निवास।। 11/45।।

किरीटिनं गदिन चक्रहस्त–

मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन

सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।

अर्जुन ने विराट स्वरूप का दर्शन करके जो भाव व्यक्त किए हैं वह श्री भगवान की सत्ता का निरूपण करते हैं तथा यह स्पष्ट करते हैं कि श्री भगवान विशिष्ट सत्ता हैं।

अर्जुन ने कहा हे हृषीकेश! ऐसा उचित ही है कि आपके गुण और माहात्म्य के गायन से यह समस्त जगत प्रसन्न हो रहा है तथा आपकी भृति प्रियता को प्राप्त हो रहा है। भयभीत असुरगण सभी दिशाओं में पलायन कर रहे हैं और सिद्धों के समुदाय आपको प्रणाम कर रहे हैं। ये महात्मन! आप ब्रह्म के भी आदिकर्ता और सबसे श्रेष्ठ हैं। आपको हम किस विधि से प्रणाम करें। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत असत है और उससे जो परे अक्षर ब्रह्म है वह भी आप ही हैं। आप ही आदिदेव हैं, पुरातन पुरुष हैं। आप इस संसार के परम निधान है और जानने वाले तथा जानने के योग्य आप ही परम धाम है। हे अनन्तरूप! आपसे यह संसार पूरी तरह से परिपूर्ण है। आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, प्रजा के स्वामी ब्रह्म तथा ब्रह्म के भी पिता है। आपको सहस्त्रों बार प्रणाम हो, पुनः प्रणाम हो। आपके लिए पुनः पुनः नमस्कार हो। हे असीम पराक्रम वाले आपके लिए आगे और पीछे से नमस्कार हो। हे भगवन ! आपके लिए सब ओर से मैं प्रणाम करता हूं। हे अनन्त पराक्रमशाली! आप समस्त संसार को व्याप्त किए हुए हैं। इससे आप ही सर्वरूप हैं। आपके इस महिमा को न समझते हुए मेरे द्वारा यह माना गया कि आप हमारे मित्र है ऐसा समझकर प्रेम से या प्रमाद से मैने हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे! हठपूर्वक जो कुछ भी आपके प्रतिकूल कह दिया हो हे अच्युत! हसी करने के लिए विहार, सैय्या और आसन तथा भोजन में भी अकेले अथवा अन्य मित्रों के समक्ष यदि आप को अपमानित किया हो तो हे अप्रमेय स्वरूप में आपसे क्षमा चाहता हूं। आप इस समग्र चराचर जगत के पिता और सबसे बड़े गुरू तथा अत्यंत पूजनीय है। हे अनुपम प्रभाव वाले तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है तो अधिक कैसे हो सकता। हे भगवन! मैं अपने सम्पूर्ण शरीर को आपके चरणों में रखकर प्रणाम करता हूं। आप स्तुति करने योग्य हैं। आप ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए मैं निवेदन करता हूं हे देव! पिता जैसे अपने पुत्र का और एक मित्र जैसे अपने मित्र का, पति जैसे अपनी पत्नी का अपराध क्षमा करता है वैसे ही आप मेरे अपराध क्षमा करें। इसके पूर्व मैने कभी आप का विराट स्वरूप नहीं देखा है इसलिए इस स्वरूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूं। मेरा मन भय से अत्यंत व्याकुल हो रहा है इसलिए मुझे अपने चतुर्भुज विष्णु रूप का दर्शन कराइए। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों। मैं वैसे ही आपको मुकुट गदा और चक्र धारण किए हुए देखने की इच्छा करता हूं। हे विश्व स्वरूप! हे सहस्त्रबाहु ! इसलिए उसी चतुर्भुज रूप में प्रकट हो जाइए।

अर्जुन ने उपरोक्त प्रकरण में विराट स्वरूप का विशिष्ट वर्णन किया है और विभिन्न प्रकार से श्री भगवान से क्षमा याचना की है जो वर्णन उनके द्वारा किया गया है वह श्री भगवान की सत्ता को विशेष रूप से निरूपित करता है। अर्जुन ने कहा कि आप वायु, यमराज, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा और ब्रह्म के भी पिता है। इसलिए मैं आपको प्रणाम करता हूं। अर्जुन चूंकि विराट स्वरूप का प्रत्यक्षदर्शी पुरूष है। इसलिए उसने विराट स्वरूप के संदर्भ में विशिष्ट वर्णन किया है जो श्री भगवान की सत्ता का प्रकटीकरण करता है।

62– मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं

रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं

यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्। 11/47।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दाने–

र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके

द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर। 11/48।।

मा ते व्यथा मा च विमूढ़भावो

दृष्टवा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं

तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।। 11/49।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! आप पर प्रसन्न होकर मैने स्वयं अपनी योग सामर्थ्य से परम तेजस्वी सबका आदिकारण अनन्त विराट स्वरूप तेरे समक्ष प्रस्तुत किया है। तेरे अतिरिक्त अन्य किसी ने भी इससे पूर्व इस विराट स्वरूप का दर्शन नहीं किया है।

हे अर्जुन इस पृथ्वी लोक में ऐसा विराट स्वरूप न तो वेदों के अध्ययन से, न दान देने से और न यज्ञादिक क्रियाओं से तथा न ही भयंकर तपों के प्रभाव से देखा जा पाना संभव है। मेरे इस भयंकर विराट स्वरूप को देखकर तुमको व्यथा नहीं होनी चाहिए और मूर्खतापूर्ण भाव भी उत्पन्न नहीं होने चाहिए। तुम भय से मुक्त होकर मेरे में प्रीति करके मेरे इस चतुर्भुज रूप को देख।

श्री भगवान ने अपनी विशेष सत्ता का प्रभाव दिखाकर विराट स्वरूप का प्रदर्शन किया। इस विराट स्वरूप का प्रदर्शन सृष्टि के आदि से और अब तक कभी नहीं हुआ था। श्री भगवान एक सामान्य पुरुष के रूप में अर्जुन के रथ पर विराजमान थे और वे एक विराट स्वरूप के रूप में परिवर्तित हो गए। यह विशेष तथ्य है इस प्रकार का विराट स्वरूप वेदों के अध्ययन से, दान और यज्ञादिक क्रियाओं से तथा भयंकर तपो से देखा जाना संभव नहीं है। ऐसा श्री भगवान का कथन है। चूंकि विराट स्वरूप इतना भयंकर था उसका दर्शन करने वाले में व्याकुलता तो उत्पन्न हो ही जानी थी। इसलिए श्री भगवान ने अपने शंख, चक्र, गदा और पद्मयुक्त चतुर्भुज रूप को प्रदर्शित किया। पहले विराट स्वरूप का प्रदर्शन और फिर विराट स्वरूप से चतुर्भुज रूप में परिवर्तन श्री भगवान की विशेष सत्ता का प्रकटीकरण है तथा श्री भगवान को विशिष्ट सत्ता वाला सिद्ध करता है।

63– संजय उवाच –

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा

स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

आश्वासयामास च भीतमेनं

भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।। 11/50।।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा हे राजन भगवान वासुदेव ने अर्जुन से ऐसा बोलकर पुनः जैसा कहा था वैसे चतुर्भुज रूप को प्रकट किया और उन्होंने चतुर्भुज रूप में सौम्य भाव से भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।

संजय को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी और उन्होंने महाभारत के युद्ध को देखा था। इसी महाभारत युद्ध के पूर्व हुई भगवद्गीता के प्रकटीकरण का भी उन्होंने वर्णन किया तथा विराट स्वरूप को भी देखा। संजय इस तथ्य के साक्षी हैं कि उन्होंने श्री भगवान के विराट स्वरूप का दर्शन किया तथा इस तथ्य के भी साक्षी है वही विराट स्वरूप चतुर्भुज रूप में परिवर्तित हो गया। संजय के इस कथन से श्री भगवान की सत्ता का स्पष्ट निरूपण होता है। इसमें संदेह नहीं रहता।

64– अर्जुन उवाच –

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेतः प्रकृतिं गतः। 11/51।।

अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्य स्वरूप को देखकर मैं शान्तचित्त हो गया हूं और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो चुका हूं।

अर्जुन विराट स्वरूप के दर्शन से अत्यंत भयभीत हो गए थे। उन्होंने अपने भय का वर्णन भी 11वें अध्याय में किया है। जब अर्जुन ने श्री भगवान से यह कहा कि अपने विराट स्वरूप को समाप्त करके चतुर्भुज रूप का दर्शन कराइए तो श्री भगवान ने वैसा ही किया विराट स्वरूप के समापन से अर्जुन का भय समाप्त हो गया और वे अपनी वास्तविक प्रकृति को प्राप्त हो गए। जब मनुष्य में किसी प्रकार की व्यथा होती है अथवा भय होता है तो उसकी प्रकृति भी विक्षिप्त हो जाती है। अर्थात् उसकी प्रकृति में भी परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार यह तथ्य और अर्जुन का कथन भगवान की सत्ता का प्रकटीकरण कर रहा हूं।

65– श्री भगवान उवाच–

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः। 11/52।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। 11/53।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! तुमने मेरा जो चतुर्भुज रूप का दर्शन किया है। यह भी दर्शन अत्यंत दुर्लभ है। क्योंकि देवगण भी नित्य इस स्वरूप के दर्शन की इच्छा करते है। जैसा तुमने मेरे चतुर्भुज रूप का दर्शन किया है वह दर्शन भी न वेदो, तप, दान व न यज्ञ से देखा जा पाना संभव है।

श्री भगवान ने अपने चतुर्भुज का जो वर्णन किया है उसमें चतुर्भुज स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा है कि इस स्वरूप के दर्शन की इच्छा देवतागण भी करते हैं परन्तु ये उनके लिए भी दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त जप, दान, यज्ञ से और न वेदों के अध्ययन से इस स्वरूप को देखा जा पाना संभव है। यह श्री भगवान की सत्ता का विशेष प्रकटीकरण है। वह देवताओं के आदिकारण हैं तथा चतुर्भुज रूप में प्रतिष्ठित हैं। जैसा कि वर्णन अनेक पौराणिक ग्रंथों में आता है।

66– भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परञ्तप।। 11/54।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।

निवैर्रः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। 11/55।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! अन्य भक्ति से इस प्रकार का चतुर्भुज स्वरूप का प्रयत्क्ष दर्शन तथा उसे तत्त्व से जानने और उसमें प्रवेश करने के लिए भक्ति ही आधार है। हे अर्जुन ! जो साधक मेरे लिए सम्पूर्ण कर्मो को करने वाला है। मेरे आश्रय में है। मेरा भक्त है ऐसा आसक्ति रहित भक्त जो सम्पूर्ण प्राणियों से बैर नहीं रखता है वह अनन्य भक्तियुक्त साधक मुझको ही प्राप्त होता है।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में यह स्पष्ट किया है कि चतुर्भुज स्वरूप अनन्य भक्ति से देखा जा पाना संभव है जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। उसकी सुलभता का आधार भक्ति है परन्तु यह अत्यंत कठिन तथ्य है जो मनुष्य सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म श्री भगवान के आश्रय से करता है वह श्री भगवान का भक्त हो जाता है और उसमें सांसारिक आसक्ति का अभाव हो जाता है तथा समस्त प्राणियों के प्रति उसके मन में बैर भाव नहीं रहता। इस

अनन्य भक्ति के कारण ही वह श्री भगवान को प्राप्त होता है। इस प्रकरण में श्री भगवान की सत्ता का विशेष निरूपण किया गया है।

67– ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। 12/6।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। 12/7।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! जो साधक मेरे आश्रय में रहकर अपने समस्त कर्मो को मुझमें अर्पित कर देते हैं और मेरे को ही अनन्य योग से ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन ऐसे मेरे में चित्त लगाने वाले भक्तों का मैं अत्यंत शीघ्र ही मृत्यु स्वरूप संसार सागर से उद्धार कर देता हूं। श्री भगवान ने इस प्रकरण में यह कहा है कि जो भक्तजन मेरा आश्रय ले लेते हैं और मेरे में समस्त कर्मो का अर्पण कर देते हैं तथा मेरे स्वरूप का अनन्य भाव से चिंतन करते हैं वे मेरे प्रिय भक्त हो जाते हैं और ऐसे भक्तों का मैं इस संसार सागर से उद्धार कर देता हूं।

परमात्मा के लिए परमात्मा के आश्रय में जाना और परमात्मा के लिए कर्मो का अर्पण करना तथा उनका स्वरूप का चिंतन करना ही विशेष तथ्य है। हम संसार के आश्रय में रहते हैं। सभी कर्मो को संसार के प्रति अर्पित करते हैं। ऐसा करने से हम पुनः पुनः इस मृत्युरूपी संसार सागर में डूबे रहते हैं। परन्तु इसके प्रतिकूल परमात्मा का आश्रय लेने से उनमें कर्मो का अर्पण करने से उनका ही चिंतन करने से श्री भगवान की प्रियता प्राप्त होती है और मनुष्य का उद्धार हो जाता है। इस प्रकरण में भी श्री भगवान ने अपनी सत्ता का निरूपण किया है।

68– मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। 12/8।।

अर्थ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।। 12/9।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।। 12/10।।

श्री भगवान ने कहा कि मेरे स्वरूप में मन को लगा ले और मेरे स्वरूप में बुद्धि का निवेश कर ले। ऐसा करने से तू मुझमें ही निवास करेगा। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। यदि तू मेरे में मन को स्थिर स्थापित कर लेने में सक्षम नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यास रूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा कर और यदि अभ्यास में भी असमर्थता है तो मेरे आश्रय में रहकर कर्म कर। इस प्रकार मेरे अर्थ कर्म करता हुआ मेरा साक्षात्कार रूपी सिद्धि को अवश्य प्राप्त कर जाएगा।

इस प्रकरण में श्री भगवान ने स्वयं में मन लगाने को कहा है और बुद्धि को निवेश करने को कहा है। जहां पर मन लगता है वहां पर बुद्धि भी साथ रहती है। यद्यपि बुद्धि मन की स्वामी है वह मन को अनैतिक चिंतन से रोक सकती है परन्तु जब तक मनुष्य संसार में रहता है तब तक बुद्धि मन की बात मानती है और जब साधक हो जाता है तो बुद्धि मन के आश्रय में नहीं रहती है। वरन् वह मन को अपने आश्रय में रखती है। यदि मन पर बुद्धि का नियंत्रण हो जाए तो पुनः पुनः संसार से हटाना और श्री भगवान में स्थापित करना ही अभ्यास कहा जाता है। यदि ऐसा अभ्यास न बन पड़े तो श्री भगवान ने एक सहज उपाय दिया कि मनुष्य को मेरे आश्रय में रहकर मेरे निमित्त ही समस्त कर्मो का सम्पादन करना चाहिए। परमात्मा के आश्रय में उनके निमित्त कर्म करने से मन श्री भगवान की ओर जाता है और इससे श्री भगवान की उपलब्धि हो जाती है। इस प्रकरण में भी श्री भगवान ने अपनी सत्ता का निरूपण किया है।

69– श्री भगवान उवच–

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।। 14/1।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।। 14/2।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! जो भी ज्ञान है उन सबमें वह श्रेष्ठ ज्ञान है जिसको परम ज्ञान कहते हैं उस बारे में मैं वर्णन करूंगा। उस परम ज्ञान को जानकर ही समस्त मुनिजन इस पृथ्वीलोक से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गए। इस ज्ञान के आश्रय से मेरे स्वरूप को पाकर सृष्टि के आदि में उत्पत्ति भी नहीं होती और प्रलयकाल में वे व्यथा भी नहीं होती।

श्री भगवान ने 14वें अध्याय के आरम्भ में यह कहा कि मैं उस परम ज्ञान को तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत करूंगा जो परम सिद्धि का आश्रय है। अर्थात् जिससे मनुष्य को परम सिद्धि प्राप्त होती है और जिससे मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। अर्थात् न तो सृष्टि के आदि में उत्पत्ति होती है और न प्रलयकाल में व्याकुलता होती है। ऐसा परम ज्ञान श्री भगवान के ही पास हो सकता है। जिसका उन्होंने संकेत किया है और उस ज्ञान का आश्रय ले करके जन्म मृत्यु से छुटकारा सदैव के लिए मिल जाता है। ऐसा श्री भगवान ने कहा है तो इस तथ्य से श्री भगवान की विशेष सत्ता का निरूपण होता है।

70– मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।। 14/3।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। 14/4।।

श्री भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! मेरी महत ब्रह्म नामक मूल प्रकृति है जो समस्त प्राणियों का गर्भ धारण करने का स्थल है। उसमें मैं गर्भ की स्थापना करता हूं और तब कहीं जड़ चेतन के मिलाप से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति संभव हो पाती है। हे अर्जुन! असंख्य प्रकार की जो योनिया हैं और जितने भी शरीरों की उत्पत्ति होती है उनमें प्रकृति तो गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज की स्थापना करने वाला पिता हूं।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में अपनी स्थिति को और स्पष्ट किया है तथा यह कहा है कि जो प्रकृति है वह तो माता है और मैं समस्त प्राणियों का पिता हूं। इससे पहले

भी श्री भगवान ने आठ प्रकार की प्रकृति का उल्लेख किया था और यह कहा था कि मेरी आठ प्रकार की प्रकृति है और एक प्रकृति जो आठ प्रकार की है वह अपरा प्रकृति है तथा जो परा प्रकृति है वह जीव स्वरूप है। इस प्रकार जड़ और चेतन के सहयोग से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। उसमें पिता के स्वरूप में मैं हूं और माता के स्वरूप में प्रकृति है। इस प्रकार समग्र जगत की माता प्रकृति है और श्री भगवान पिता है। इस तथ्य के निरूपण से श्री भगवान की सत्ता का निरूपण होता है।

71– मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयायकल्पते।। 14/26।।

ब्रह्माणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। 14/27।।

श्री भगवान ने कहा जो साधक अव्यभिचारी भक्ति योग के द्वारा मुझको निरन्तर भजता है। वह इन तीन गुणों को लांघकर ब्रह्म साक्षात्कार का पात्र बन जाता है। क्योंकि मैं ही उस अविनाशी ब्रह्म का अमृत का शाश्वत धर्म का और अखंड रस का तथा अखंड आनन्द का आश्रय हूं।

श्री भगवान ने इस स्थल पर अव्यभिचारिणी भक्ति का वर्णन किया है। वस्तुतः श्री भगवान की एक मात्र उपासना करना और संसार का परित्याग कर देना। अव्यभिचारिणी भक्ति है। जो साधक संसार का भी आश्रय लेते है और भगवान का भी आश्रय लेना चाहते है उनके द्वारा जो भक्ति होती है वह अव्यभिचारिणी भक्ति है क्योंकि संसार तीन गुणों का कार्यरूप है। इसलिए तीन गुणों के कार्यरूप में जब तक मनुष्य घूमा करता है तब तक वह परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता। एक मात्र श्री भगवान का आश्रय लेने से ही तीनों गुणों का उल्लंघन होता है। श्री भगवान ने आगे यह कहा कि मैं अविनाशी ब्रह्म का अर्थात् उस सत्ता का जो इस जगत की उत्पत्ति और विनाशक सत्ता है तथा अमृत का अर्थात् उस तत्त्व का जो जीवन का प्रतीक है तथा शाश्वत धर्म का अर्थात् उस धर्म का जो इस संसार को बनाए रखता है और खंडित न होने वाले आनन्द की मैं प्रतिष्ठा हूं। श्री भगवान का यह कथन विशिष्ट है। आनन्द, शाश्वत धर्म, अमृत और अविनाशी परब्रह्म की प्रतिष्ठा

का अभिप्राय यह है कि वे ही जगत का एकमात्र आश्रय हैं उनसे ही जीवन मिलता है उनसे ही शाश्वत धर्म का निरूपण होता है और उनसे ही अखंडित आनन्द मिलता है। इस तथ्य के कथन से श्री भगवान की विशेष सत्ता का निरूपण होता है।

72– न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। 15/6।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। 15/7।।

श्री भगवान ने कहा जिस अविनाशी परम पद को पहुंच कर इस पृथ्वी लोक पर वापसी नहीं होती। वह परमपद स्वतः प्रकाशित है। क्योंकि वहां पर न तो सूर्य का प्रकाश है न चन्द्रमा का प्रकाश है न अग्नि का प्रकाश है वही मेरा परमधाम है। इस प्राणियों के शरीर में जो ये सनातन जीवात्मा है वह मेरा ही एक मात्र अंश है और इस प्रकृति में स्थित मन और पांचों इन्द्रियों को जीवात्मा आकर्षित करती है।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में दो तथ्यों का वर्णन किया है एक तो अपने परम धाम के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण दिया है कि उस परमधाम को सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते। वहां पर परमधाम का स्वयं का प्रकाश है वहां सूर्य चन्द्रमा और अग्नि की सत्ता नहीं है और उस स्थल पर जाकर पुनः वापसी नहीं होती। दूसरे श्लोक में यह कहा कि प्राणियों के शरीर में जो चेतन तत्त्व है जो मन तथा पांच इन्द्रियों के आकर्षण का कारण है जिसे जीव कहा जाता है वह मेरा ही अंश है। इन दोनों तथ्यो ंसे श्री भगवान की विशेष सत्ता का निरूपण होता है। जो कोई जीवात्मा को श्री भगवान का अंश नहीं मानते वे भ्रम में है।

73– यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।। 15/12।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।। 15/13।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम।। 15/14।।

सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद्वेद्वविदेव चाहम्।। 15/15।।

श्री भगवान ने कहा सूर्य में जो तेज है, जिससे वे अखिल विश्व प्रकाशित होता है और जो तेज चन्द्रमा में है जो तेज अग्नि में है उस तेज को मेरा ही तेज समझ और मैं ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपने ओज से सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करता हूं और रस स्वरूप चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूं। मैं सभी प्राणियों के शरीर में स्थित रहकर प्राण और अपान से संयुक्त होकर वैश्वानराअग्नि रूप में रहकर चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूं। मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित रहता हूं। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है तथा समस्त वेदों के द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूं।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में अपनी विशेष स्थिति को वर्णित करते हुए यह कहा कि सूर्य चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज है वह मेरा तेज है। यदि मैं सूर्य चन्द्रमा और अग्नि को अपना तेज न दूं तो सूर्य चन्द्रमा अग्नि में उनका अपना तेज नहीं है। मैं पृथ्वी में स्वयं को प्रवेश कराकर अपने पराक्रम से सभी प्राणियों का धारण पोषण करता हूं और चन्द्रमा को वह शक्ति देता हूं जिससे चन्द्रमा वनस्पतियों को पुष्ट करता है अर्थात् फलित करता है। समस्त प्राणियों के चार प्रकार के भोजन होते हैं उस भोजन को पचाने की शक्ति मेरे द्वारा ही वैश्वानराअग्नि के रूप में दी जाती है तथा समस्त प्राणियों के हृदय में मैं ही उपस्थित रहता हूं और मेरी ही कृपा से स्मृति आती है तत्त्व का ज्ञान होता है तथा संशय और प्रतिकूल ज्ञान का निवारण होता है। समस्त वेदों का जो ज्ञान से सम्बंधित

विषय है जो वेदों के ज्ञान में वेदान्त कहा जाता है। उसके द्वारा ही मैं जाना जाता हूं। इन तथ्यों के कथन से श्री भगवान की सत्ता का विशेष निरूपण होता है।

74— यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः।। 15/18।।

यो मामेवमसम्मूढ़ो जानाति पुरूषोत्तमम्।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।। 15/19।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।। 15/20।।

हे अर्जुन! मैं जड़ समुदाय से तो अत्यंत अतीत हूं और अक्षर जीवात्मा से भी उत्तम हूं इसलिए इस संसार में और वेदों के कथन में पुरूषोत्तम नाम से मेरी प्रसिद्धि है। हे अर्जुन! जो बुद्धिमान पुरूष मेरे को पुरूषोत्तम जान लेता है वह सभी प्रकार से सभी भावों से मेरा ही भजन करता है। हे अर्जुन! इस प्रकार अति गोपनीय शास्त्र मैने आपके समक्ष वर्णित किया है इसको समझकर बुद्धिमान पुरूष कृतार्थ हो जाता है अर्थात् इस संसार के आवागमन चक्र से मुक्त हो जाता है।

श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में भी विशेष तथ्यों का निरूपण किया है और कहा है कि जो संसार में जड़ समुदाय है उसके तो मैं अत्यंत परे हूं और चूंकि जीवात्मा मेरा अंश है इसलिए उससे भी मैं श्रेष्ठ हूं। इसी श्रेष्ठता के कारण मुझे पुरूषोत्तम कहा जाता है और जो मुझे पुरूषोत्तम समझ लेता है वह मेरे आश्रय में आ करके नित्य निरन्तर मेरा ही भजन करता है। हे अर्जुन! जो भी कुछ पूर्व में वर्णित किया है उसको यथावत् स्पष्ट रूप से जानकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। श्री भगवान ने इस प्रकरण में भी अपनी सत्ता का विशेष निरूपण करते हुए अपने को पुरूषोत्तम कहा है। पुरूषोत्तम का अभिप्राय यह है कि जो भी इस संसार में पुरूष हैं उनसे श्री भगवान उत्तम हैं।

75– ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम्। 18/54।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्। 18/55।।

श्री भगवान ने कहा कि परमात्मा में स्थित प्रसन्न मन द्वारा साधक किसी के लिए शोक नहीं करता और न किसी वस्तु और स्थिति की इच्छा करता है। समस्त प्राणियों में समभाव वाला ऐसा योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है। इस पराभक्ति के द्वारा मुझको जो भी मैं हूं जितना भी हूं तत्व से समझ लेता है। उस पराभक्ति से मुझको तत्त्व से समझ कर शीघ्र ही मेरे में प्रवेश कर जाता है।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में उन साधकों के बारे में वर्णन किया है जो परमात्मा में स्थित रहते है। संसार की स्थिति का परित्याग कर चुके है। ऐसे साधको का मन सदैव प्रसन्न रहता है क्योंकि उनमें न तो शोक है न किसी वस्तु की आकांक्षा है और समस्त प्राणियों के लिए समभाव है। वस्तुतः आकांक्षा ही मनुष्य के बंधन का कारण होती है। क्योंकि आकांक्षा की पूर्ति न होने पर मनुष्य में शोक उत्पन्न हो जाता है और उसका मन भी दुःखी हो जाता है। ये स्थिति संसार में रहने वालों की है और जो संसार में नहीं रहते हैं उनकी स्थिति परमात्मा में हो जाती हैं। वे श्री भगवान की पराभक्ति को प्राप्त हो जाते है। जब श्री भगवान की पराभक्ति मिल जाती है तो ही श्री भगवान को तत्त्व से जाना जा पाना संभव होता है। वैसे श्री भगवान को जाना जा पाना असंभव रहता है। श्री भगवान पराभक्ति को प्राप्त करने वाले साधक को स्वतः ही अपनी स्थिति का ज्ञान करवा देते हैं और ऐसा पराभक्ति वाला साधक तत्काल ही परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है अर्थात् श्री भगवान को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकरण में भी श्री भगवान ने अपनी स्थिति का विशिष्ट प्रदर्शन किया है।

76– सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यापाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।। 18/56।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्नयस्य मत्पराः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।। 18/57।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।। 15/58।।

श्री भगवान ने कहा मेरे आश्रय में जो साधक आ जाता है वह समस्त कर्मो को निरन्तर सम्पादित करता हुआ मेरी दया से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है समस्त कर्मो को मन से मेरे में अर्पित करके समस्त बुद्धि योग का आश्रय ले करके मेरे परायण निरन्तर मेरे में चित्त वाला हो, और जो मेरे में चित्त वाला हो जाता है वह मेरी दया से समस्त दुर्गुणों से स्वयं भी पार हो जाता है और यदि अहंकार के कारण मेरे द्वारा कहे गए पूर्व ज्ञान को न सुनेगा न उसका अनुकरण करेगा तो निश्चित ही उसका विनाश हो जाता है।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में साधक को यह परामर्श दिया है कि साधक समस्त कर्मो को मेरे में अर्पित कर दे। ऐसा करने से साधक को मेरी कृपा स्वतः ही प्राप्त हो जाती है और अविनाशी पद भी प्राप्त हो जाता है। सब कर्मो का श्री भगवान में अर्पण करने से और श्री भगवान में चित्त लगाने से जितने प्रकार की समस्याऐं हैं जितने प्रकार के सांसारिक संकट हैं वह स्वयं ही समाप्त हो जाते है। उनके समापन के लिए कोई अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता। श्री भगवान का आश्रय ही मनुष्य को समस्त संकटों से मुक्ति प्रदान कर देता है और उसे अविनाशी परमपद भी प्रदान करता है। इस प्रकरण में श्री भगवान की सत्ता का विशिष्ट निरूपण हुआ है।

77– सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।

इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। 18/64।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। 18/65।।

श्री भगवान ने कहा जो कुछ भी मैने गोपनीय ज्ञान आपके समक्ष कहा है उससे भी अधिक गोपनीय और परम रहस्ययुक्त वचन को फिर तेरे लिए कहूंगा। क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय है। इससे मैं तुम्हारे कल्याण की इच्छा से उपदेश करूंगा। हे अर्जुन ! तू मेरे में मन वाला हो जा, मेरा भक्त बन जा, मेरा ही पूजन करने वाला हो जा, मुझको ही नमस्कार कर, ऐसा करने से तू मेरे को निश्चित रूप से प्राप्त हो जाएगा। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। इसका कारण है कि तू मुझे अत्यंत प्रिय है।

श्री भगवान ने इस प्रकरण में पुनः अत्यंत गोपनीय और मर्मयुक्त वचन को कहने की प्रतिज्ञा की है। क्योंकि अर्जुन श्री भगवान के अत्यंत प्रिय है। श्री भगवान ने बहुत सरल साधन का वर्णन करके यह कहा कि हे अर्जुन तू संसार से मन हटाकर मेरे में लगा दे। संसार की भक्ति से अलग होकर मेरा भक्त होगा जो मेरा ही एक मात्र उपासना कर और मुझे ही एक मात्र नमस्कार कर। यह चार तथ्य है जो मनुष्य को श्री भगवान के अत्यंत निकट ले जाते हैं। यह सारे तथ्य भावनात्मक है क्रियात्मक नही है। केवल मन भी भावना से लगता है। भगवान का भक्त भी भावना से हुआ जाता है। पूजा भी भावना से होता है और प्रणाम भी भावना से होता है। इसलिए श्री भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर सबसे सरल साधन दिया है और यह प्रतिज्ञा दी है कि ऐसा करने से तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह अत्यंत प्रियता की बात है। साधन भावनात्मक है क्रियात्मक नहीं है। भगवान की प्राप्ति का सहज उपाय है इससे श्री भगवान की सत्ता का निरूपण होता है।

78– सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18/66।।

हे अर्जुन! समस्त धर्मो को त्याग कर एक मात्र मेरी शरण ग्रहण कर ले। ऐसा करने से मैं समस्त पापो से तुझको मुक्त कर दूंगा।

श्री भगवान ने यह विशिष्ट श्लोक परमात्मा की अनुभूति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया है और कहा है कि जितने प्रकार के कर्तव्य कर्म हैं। उन सबका परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण ग्रहण करना। ऐसा करने से तुम समस्त पापों से मुक्त हो जाओगे। वस्तुतः जब तक मनुष्य संसार की शरण में रहता है तब तक नित्य निरन्तर ऐसे कर्म करता है जिनसे

कुछ न कुछ मात्रा में पाप अवश्य बन जाता है। ऐसा कम ही हो पाता है कि कोई ऐसे कर्म करें जो पापमुक्त हो। क्योंकि कर्म, अकर्म और विकर्म का ज्ञान हो पाना अत्यंत कठिन है। मनुष्य बहुत प्रयत्न से भी अनेक शास्त्रों के अध्ययन करने के उपरान्त भी यह निश्चित नहीं कर पाता कि कौन सा कर्म त्याज्य है और कौन सा कर्म ग्रहण करने योग्य है। इसका विनिश्चय न हो पाने के कारण ही मनुष्य न किये जाने वाले कर्मो को करकर पाप का भागी होता है। परन्तु एक सरल विधि यह है कि मनुष्य सब कुछ त्याग कर केवल भावना से श्री भगवान के अधीन हो जाए तो श्री भगवान की दृष्टि ऐसे साधक पर हो जाती है और वे ऐसी स्थिति में सत्त्व गुण की प्रबलता प्रकट कर देते है। सत्त्व गुण को शुद्ध कर देते है। शुद्ध सत्त्व गुण क्योंकि प्रकाशक होता है। इसलिए मनुष्य को शास्त्र का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। फिर वह ऐसा कर्म नहीं करता है जिससे पाप की बढ़ोत्तरी हो सके वरन ऐसे कर्म करता है जो पापरहित हों। इसलिए श्री भगवान ने यह कहा कि जितने प्रकार के कर्तव्य कर्म हैं उनका परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण में आ जा। चूंकि अंततः हम सभी को परमात्मा की शरण में ही जाना पड़ेगा और उससे कोई छुटकारा नहीं मिलने वाला है। इसलिए जीवन रहते ही परमात्मा की शरण ग्रहण कर ली जाए तो यह विशेष बात है। ऐसा श्री भगवान का कथन है। श्री भगवान ने अपनी शरण ग्रहण करने के लिए जो तथ्य कहा है उसके परिणाम में पापों से मुक्त करने वाला जो वाक्य कहा है वह विशिष्ट है और श्री भगवान की सत्ता का इससे निरूपण होता है।

79– संजय उवाच–

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।

संवादमिमश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।। 18/74।।

व्यासप्रसादाच्छुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।

योग योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।। 18/75।।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुत्म्।

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।। 18/76।।

संजय ने कहा हे राजन! इस प्रकार मैने भगवान श्री वासुदेव और महात्मा अर्जुन के मध्य इस अद्भुत रोमांचक संवाद का श्रवण किया है। महर्षि वेदव्यास की कृपा से मैने इस परम गोपनीय योग को योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन के समक्ष कहते हुए साक्षात सुना है। हे राजन ! भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के मध्य इस अत्यंत रोमांचक संवाद जो पुण्य स्वरूप है तथा अद्भुत भी है। इस संवाद को मैं पुनः पुनः स्मरण करके पुनः पुनः प्रसन्न हो रहा हूं।

महर्षि वेदव्यास की कृपा से संजय को दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी और उन्हे दिव्य दृष्टि के आश्रय से ही भगवान श्री हरि के विराट स्वरूप और चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन किया तथा गीता का समस्त संवाद उन्होंने सुना। संजय ने इस तथ्य को उपर्युक्त श्लोकों में वर्णित किया है और इसे अद्भुत रहस्यप्रद बताया है। इस तथ्य की पुष्टि की है कि मैने भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा जो संवाद सुना है वह साक्षात् सुना है प्रत्यक्ष सुना है इसमें अप्रत्यक्षता की कोई बात नहीं है और इस ज्ञान युक्त संवाद को तथा भगवान के स्वरूप का पुनः पुनः स्मरण करके मुझे हर्ष प्राप्त हो रहा है अर्थात् मैं प्रसन्न हो रहा हूं। वस्तुतः विराट स्वरूप और भगवान श्री हरि के चतुर्भुज स्वरूप को देख कर इसे प्रसन्नता नहीं होगी। इससे रोमांच नहीं होगा। संजय का यह जो कथन है वह भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता को और भी स्पष्ट करता है तथा इसका साक्षी है।

80– तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।

विस्मयो में महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।। 18/77।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। 18/78।।

संजय ने कहा कि हे राजन! श्री हरि के उस अत्यंत अद्भुत स्वरूप को पुनः पुनः याद करके मैं महान विस्मय में हो जाता हूं और पुनः पुनः प्रसन्न हो रहा हूं। हे राजन ! जहां योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण हैं जहां धनुर्धारी अर्जुन हैं वहां पर श्री, विजय, विभूति और ध्रुवनीति है ऐसा मेरा विचार है। संजय के उक्त कथन में विलक्षण भाव है। चूंकि श्री हरि के विलक्षण स्वरूप को संजय ने देखा था। इसलिए उनके प्रति यह भाव पुष्ट हो गया कि

जिस पक्ष में भगवान श्रीकृष्ण हैं वहां पर ही विजय है और पर ही नीति है। वहां अनीति नहीं है। वहां पर ही प्रतिष्ठा है इसलिए संजय ने युद्ध आरम्भ होने के पूर्व ही यह भविष्यवाणी कर दी कि साक्षात् श्री हरि जिस पक्ष में खड़े होंगे वहां पर विजय न हो यह असंभव है। संजय के यह वचन भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता का निरूपण करते हैं। इस प्रकार भगवद्गीता भगवान श्रीकृष्ण के उस सत्ता के रूप को प्रकट करती है जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थिति तथा प्रलय होता है।

6– श्री मद्भागवत में श्री भगवान के आश्चर्यजनक कार्य :–

श्री भगवान के आश्चर्यजनक कार्यो का श्रीमद् भागवदमहापुराण में उल्लेख किया गया है जो विशिष्ट है जो सामान्य व्यक्तियों द्वारा संभव नहीं है। श्रीमद्भागवद में वर्णित तथ्यों का वर्णन निम्न प्रकार है।

1– शिशुकाल में पूतना राक्षसी का वध करना।

2– शिशुकाल में छकड़े को उल्टा कर देना।

3– तृणावर्त बवंडर के रूप में आया और श्री भगवान ने उसका उद्धार किया।

4– वत्सासुर एवं बकासुर जैसे राक्षसों का उद्धार करना।

5– अजगर शरीर बनाने वाले अघासुर का उद्धार करना।

6– ग्वालबालों को छिपाने वाले ब्रह्माजी के मोह को भंग करना।

7– गधे के रूप में रहने वाले दैत्य धेनुकासुर का उद्धार।

8– कालिया नाग का दमन तथा कालिया नाग की स्त्रियों की प्रार्थना पर उसे अभयदान देना।

9– बलराम जी को लेकर भागने वाले प्रलम्बासुर का उद्धार।

10– वरूण लोक से नन्दबाबा को मुक्त करना।

11– अजगर के मुख से नन्दबाबा को छुड़ाना।

12– शंखचूड़ का उद्धार करना।

13– बैलरूपी दैत्य अरिष्टासुर का उद्धार।

14– घोड़े के रूप में केसी नामक दैत्य का उद्धार।

15– ग्वालबाले के रूप में ब्योमासुर का उद्धार।

16– तीन स्थानों से तिरछी कुब्जादासी पर कृपा करके उसे सुन्दररूप देना।

17– महाबली कुबल्याचीड़ हाथी का संहार करके उसके दांत उखाड़ लेना।

18– चारू का वध। सल तथा तोषल का वध किया जाना।

19– कंस का मथुरा में ही वध करना और कंस के आठ भाईयों को मार डालना।

20– यमराज के यमलोक मृतागुरु पुत्र को वापस लाना।

21– कालयमन को मुचकुन्द द्वारा भस्म कराना।

22– महाप्रतापी सम्बासुर का वध।

23– भौमासुर का वध और 16 हजार 100 राज कन्याओं का उद्धार।

24– पौण्ड्क तथा काशीराज का उद्धार।

25– भीम द्वारा महाबली जरासंध का उद्धार करना तथा बंदी राजाओं का उद्धार।

26– कौरवों की सभा में द्रोपदी के चीरहरण के समय उपस्थित होकर द्रोपदी की लाज बचाना।

27– दुर्वासा के कोप से पांडव की रक्षा करना।

28– अपने मृत भाईयों को देवकी को लाकर देना।

29– कौरवों की सभा में दुर्योधन कर्ण आदि द्वारा पकड़े जाने के प्रयास के समय चक्र सुर्दशन के प्रयोग से सबको भयभीत कर देना।

30– दंतवक्र का वध तथा उसके भाई विदूरस का वध।

ब्रह्मस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं। इसे स्वीकार कर हम अपने श्रेयस्कारी पद की ओर उन्मुख हो सकते हैं। श्री भगवान हमारी प्रत्येक बाह्य गतिविधि को चेष्टा को, देख रहे है तथा हृदय में स्थित होकर प्रत्येक विचार को जान रहे हैं। हम जो मनसावाचाकर्मणा कर्म कर रहे हैं उस सबके सब वह साक्षी हैं। प्रत्येक कर्म पर दृष्टि रहने से वह दृष्टा हैं। प्रत्येक कर्म को प्रत्यक्ष देखने से वह साक्षी हैं। हमारे जन्म का कारण होने से पिता हैं। जन्म देने के कारण वह माता पिता हैं। हमारे सुहृद और प्रिय मित्र हैं। पाप कर्मो को समाप्त करने के कारण कृपालु हैं। मनुष्य योनि में जन्म देने के कारण वह दयालु हैं। हमारे माता पिता पितामह को भी उत्पन्न करने के कारण वह सबके पितामह हैं। सर्वत्र उपस्थित रहने के कारण सर्वगत हैं। जन्मरहित होने के कारण अजन्मा हैं। इन्द्रिय तथा मन बुद्धि के विषय न होने के कारण अचित्यस्वरूप हं। गुणों से परे होने के कारण त्रिगुणातीत हैं। ऐसे ब्रह्मस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण को हम कोटिशः प्रणाम करते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूप को समझकर कोई भी मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है और उनके प्रति संदेहास्पद भाव रखकर अपने पतन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। दोनों ही स्थितियां हमारे समक्ष है हमें उसे स्वीकार करना है यह हमारे विवेक पर आधारित है। जो कोई मनुष्य अपने कल्याण का आकांक्षी है वह श्री भगवान की भगवद्गीता के वर्णित प्रसंगों को धारण कर उन्हें ब्रह्मस्वरूप स्वीकार करेगा।